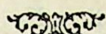
THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

138



VYĀKARAṆAMAHĀBHĀṢYA

OF

MAHARṢI PATAÑJALI

With the

'PRADĪPA' SANSKRIT COMMENTARY

By

KAIYAṬA UPĀDHYĀYA

Edited with

THE 'PRAKASHA' HINDI COMMENTARY

By

Acharya Madhusudana Prasada Mishra.

Vyakarana-Dharmashastracharya and Kavyatirtha.

Foreword by

Pandita Yudhishthira Mimamsaka



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

Third Edition
1984

Also can be had of

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 55357

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bunglow Road
DELHI 110007

प्रस्तावना

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का विशाल वाङ्मय

संस्कृत भाषाविषयक भारतीय मत

संसार में जितनी भी भाषाएँ वा बोलियाँ प्रवृत्त हैं, तथा जिन विलुप्त हुई भाषाओं का हमें यत्किञ्चिद् भी ज्ञान है, उनमें सुरभारती अनेक दृष्टियों से अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस भाषा में आदि काल से आजतक कोई भी मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ[1]। अत एव यह दैवी वाक् अनादिनिधना अजरा अमरा है। संस्कृत भाषा के समस्त वैयाकरण चाहे वे किसी भी मत के अनुयायी क्यों न रहे हों, इस भाषा के शब्दों को ही नित्य वा साधु शब्द मानते हैं। यही दैवी वाक् समस्त आर्यभाषाओं वा म्लेच्छ=अनार्य=आसुरी भाषाओं की साक्षात् वा परम्परा रूप से जननी है अर्थात् यह दैवी वाक् ही समस्त भाषाओं की प्रकृति है, अशक्ति वा अज्ञानादि कारणों से अन्य भाषाएँ साक्षात् वा परम्परा रूप से इसी से अपभ्रष्ट होकर उत्पन्न हुई हैं। इसी तथ्य का निर्देश महावैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस प्रकार किया है—

दैवीवाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः। (ब्र० का० १५४.)
पारम्पर्याद् अपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु। (ब्र० का० १५३.)

---

१. हमने पाश्चात्य भाषामत का भी गहरा अनुशीलन किया है, भारतीय परम्परा से भी अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है। परन्तु लगभग ४० वर्षों के सुदीर्घकाल में हमें एक भी ऐसा शब्द संस्कृत भाषा में नहीं मिला जो किसी काल के अन्य रूप में प्रयुक्त होता रहा हो और उत्तर काल में उसमें रूप परिवर्तन होकर भी संस्कृत भाषा का ही वह अङ्ग बना रहा हो। संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन आपाततः दिखाई देता है, वह शब्दों के रूप परिवर्तन के कारण नहीं है अपितु प्राचीन काल की अतिविशाल संस्कृत भाषा, जिसमें मिलते-जुलते रूप वाले अनेक शब्द प्रयुक्त थे, में उत्तरोत्तर ह्रास के कारण कतिपय शब्दों के अवशिष्ट रह जाने और कतिपय का लोप हो जाने के कारण प्रतीत होता है। हमने इस विषय का सप्रमाण सोदाहरण निरूपण 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के 'संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति—विकास वा ह्रास' नामक प्रथमाध्याय में विस्तार से किया है।

इसी दृष्टि से महामुनि व्याडि ने अपने संग्रह नामक महान् ग्रन्थ में समस्त अपभ्रंशों की प्रकृति साधु शब्दों=संस्कृत शब्दों को माना है—**शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः**[१]।

पाश्चात्यमत

पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक उक्त भारतीय मत को स्वीकार नहीं करते वे संस्कृत भाषा को भी प्राचीन ग्रीक लैटिन के समकक्ष किसी प्राचीन भाषा से अपभ्रष्ट हुई सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परन्तु घोर प्रयत्न करने पर भी वे किसी ऐसी प्राचीन भाषा का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सके, जो व्यवहार रूप में संस्कृत भाषा से प्राचीन हो। उन्होंने अपने असत्य अनैतिहासिक उक्त मत को वैज्ञानिकत्व का चोला पहराने के लिए एक काल्पनिक भाषा बनाई है और उसे संस्कृत हिटैटी ग्रीक लैटिन प्रभृति भाषाओं की जननी बताया है। कितना दुस्साहस है इन तथाकथित वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानों का? यह है इन पाश्चात्य विद्वानों का संस्कृत भाषा के सर्व प्राचीनत्व को नष्ट करने का मार्ग।

संस्कृत वाङ्मय और पाश्चात्य विद्वान्

इन पाश्चात्य विद्वानों ने केवल संस्कृत भाषा के इतिहास-सिद्ध सर्वप्राचीनत्व सिद्धान्त को ही नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु संस्कृत साहित्य, विशेष करके वैदिक वाङ्मय की प्रामाणिकता और पुरातनता के विरुद्ध भी घोर प्रयत्न किया है। इस कार्य के लिए इन्होंने बहुत चातुर्यपूर्ण मार्ग अपनाया है। भारतीय विद्वान् इनके अन्तर्निहित भावों को जान न जाएँ इसके लिए इन्होंने भारतीय वैदिक और लौकिक वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों के उत्तम संस्करण प्रकाशित किए, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाओं में उनके अनुवाद किये, तत्सम्बन्धी ग्रन्थ वा निबन्ध लिखे, कहीं-कहीं संस्कृत वाङ्मय की वा किसी ग्रन्थ की प्रशंसा भी की। इन चातुर्यपूर्ण प्रयत्नों से भारतीयों को अपने शुद्ध हृदय वा सहृदयता का परिचय देकर भ्रान्त करने का प्रयत्न किया। निस्सन्देह ये पाश्चात्त्य विद्वान् अपने इस प्रयत्न में पूर्ण सफल हुए। अस्तु।

---

१. शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः।
नाप्रकृतिरपशब्दः स्वतन्त्रः कश्चिद् विद्यते।
सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः॥
ब्रह्मकाण्ड कारिका ४८ के स्वोपज्ञविवरण में उद्धृत।

सम्भव है अनेक व्यक्ति हमारे लेख पर विश्वास न करेंगे। इसीलिए हम उन योरोपीय विद्वानों के ही कतिपय वचन नीचे उद्धृत करते हैं जिससे स्वयं व्यक्त हो जाएगा कि इन तथाकथित संस्कृतप्रेमी विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय, विशेषकर वैदिक वाङ्मय के प्रति इतना प्रयत्न क्यों किया।

हम सबसे प्रथम सबसे प्रसिद्ध वेदज्ञ माने जाने वाले मैक्समूलर के ही शब्द उद्धृत करते है—

(१) मैक्समूलर सन् १८६६ के एक पत्र में अपनी स्त्री को लिखता है—

वेद का यह अनुवाद और मेरा (सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का) यह संस्करण उत्तर काल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल है और मैं निश्चय से अनुभव करता हूँ कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन सहस्र वर्ष से उन से उपजने वाली सब बातों के उखाड़ने का एक मात्र उपाय है।[1]

(२) मैक्समूलर अपने पुत्र को एक पत्र में लिखता है—

संसार की सब धर्म पुस्तकों में से नई प्रतिज्ञा (ईसा की बाइबल) उत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान को, जो आचार की शिक्षा में नई प्रतिज्ञा का रूपान्तर है, रखा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरातन प्रतिज्ञा, दाक्षिणात्य बौद्धपिटक, वेद और अवेस्ता आदि हैं।[2]

(३) ईसाईमत पक्षपाती मैक्समूलर को इतने से शान्ति न हुई, वह वेद के विषय में अन्यत्र लिखता है—

वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या परम वालिश, जटिल, अधम और साधारण है।[3]

1........This edition of mine and the translation of the veda will hereafter tell to a great extent on the fate of India. .... It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.

2. Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?...........I say the New Testament. After that, I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow, the old Testament, the Southern Buddhist Tripitaka .....The Veda and the Avesta.

3. Large number of Vedic hymns are childish in the extreme : tedious, low, common place.—Chips from a German

(४) संस्कृत इङ्गलिश कोश का रचयिता मोनियर विलियम्स, जिस आक्सफोर्ड वि० वि० की बोडन अध्यापक-आसन्दी (चेयर) की ओर से उसका कोश प्रकाशित हुआ, का उद्देश्य इस प्रकार बताता है—

मुझे इस स्थिति की ओर अवश्य ध्यान आकर्षित करना चाहिए कि मैं बोडन आसन्दी का दूसरा पूरक हूँ। इसके संस्थापक कर्नल बोडन ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपने स्वीकार पत्र (अगस्त १८११) में लिखा है कि उसकी विपुल भेंट का उद्देश्य-विशेष यह था कि ईसाई-धर्म ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद किया जाए, जिससे भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में अंग्रेज आगे बढ़ें।[1]

(५) तथाकथित भाषावैज्ञानिक वाकरनागल के लेख को उद्धृत करता हुआ रैपसन लिखता है—

रामायण और महाभारत भाषा और उसके रूप का वह आदर्श उपस्थित करते हैं, जो धर्मसूत्रों, स्मृतियों और पुराणों में अनुकृत है। इनका मूल भाटों की परम्परागत गानों में ढूँढ़ा जा सकता है। वे चारण भाट (=रामायण महाभारत के रचयिता) न पुरोहित थे, न विद्वान् (द्र० वाकरनागर कृत आल्ट इण्डीश ग्रामर, भाग १, पृष्ठ ५५)। इस प्रकार उनकी भाषा स्वभावतः शिष्ट संस्कृत से अधिक सर्वप्रिय और अल्प संयत है। बहुत अंशों में वह वैयाकरणों के नियम पर नहीं चलती और उनसे उपेक्षित है।[2]

Workshop, Second edition, 1866, p. 27. तथा देखो India : What can it teach us, Lecture iv, 1882.

1. I must draw attention to the fact that I am only the second occupant of the Boden Chair, and that its founder, Colonel Boden, stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of Scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the convertion of the natives of India to the Christian Religion.—Sanskrit-English Dictionary, by Sir Moniar Williams, preface, p. IX, 1899.

2. The Epics supply the model both for Language and from which is followed by the Law books and the Puranas. Their source is to be traced to the traditional recitations of bards who were neither priests nor scholars. Their language is thus naturally more popular in character and less regular

(६) रैपसन वाकरनागल के भाव को पुनः प्रकट करता हुआ लिखता है—

रामायण महाभारत की भाषा वैदिक नहीं, संस्कृत का एक सर्वप्रिय रूप है जो चारण वा भाटों ने विकसित किया[1]।

(७) संस्कृत साहित्य में कृतभूरि परिश्रम माना जाने वाला विण्टरनिट्ज रामायण महाभारत की भाषा के विषय में लिखता है—

रामायण महाभारत की भाषा संस्कृत है। इसे हम 'रामायण-भारत की संस्कृत' कहते हैं। शिष्ट संस्कृत से इसका थोड़ा सा अन्तर है। इसमें कुछ तो पुराने रूप हैं, पर अधिक अन्तर इस बात का है कि इसमें व्याकरण के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं है। यह जन साधारण की भाषा के अधिक निकट है। इसे संस्कृत का सर्वप्रिय रूप कह सकते हैं।[2]

(८) शतपथ ब्राह्मण आदि का सम्पादक अलबर्ट बैबर गीता और महाभारत में ईसाई कथानक आदि का प्रभाव देखता है। वह लिखता है—

कृष्ण के मत का विशेष रङ्ग जो महाभारत में व्यापक है, द्रष्टव्य है। ईसाई कथानक और दूसरे पाश्चात्य प्रभाव निःसन्देह उपस्थित करते हैं।[3]

---

than Classical Sanskrit. (Wackernagel, (11th Dec. 1853-21st May 1938) Altind. Grammer, Vol, 1, p. XLV.) In many respects it does not conform to the laws laid down by the grammarians and is ignored by them.—Camb. Hist. of India, Vol. I. p. 220.

1. The Language of both epics is not vedic but a popular form of Sanskrit, which was developed by the bards.

2. The language of the epics is likewise Sanskrit. We call it "Epic Sanskrit," and it differs but little from the "Classical Sanskrit" partey in that it has preserved some archaisms but more in that it keeps less strictly to the rules of Grammar and approaches more nearly to the language of the people, so that one may call it a more popular form of Sanskrit.—Indian Literature, Winternitz, p, 44.

3. The peculiar colouring of the Krishna sect, which pervades the whole book, is noteworthy; Christian legendary matter and other western influences are unmistkably present,

ये हैं कतिपय उन पाश्चात्त्य विद्वानों के विचार जो वैदिक वा लौकिक संस्कृत वाङ्मय में कृतभूरि परिश्रम माने जाते हैं और जिनके वचन पाश्चात्य पद्धति से शिक्षित वा दीक्षित भारतीय विद्वान् ब्रह्मवाक्य मानकर चलते हैं। इस विषय में जो अधिक जानना चाहें वे श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भारतवर्ष का वृहद् इतिहास' भाग १ का 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' नामक तृतीय अध्याय देखें।

पाश्चात्त्य विद्वानों की इस दुरभिसन्धि को सर्वप्रथम अशेषशेमुषीसम्पन्न स्वामी दयानन्द सरस्वती (वि० सं० १८८१–४०) ने समझा और उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा ऋग्वेदभाष्य में पदे पदे मैक्समूलर, विलसन प्रभृति द्वारा किए गए ऋग्वेद के तथाकथित व्याख्याओं का बलपूर्वक खण्डन किया। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में इन पाश्चात्त्य विद्वानों के संस्कृत-ज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

जो लोग कहते हैं कि जर्मन देश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहने मात्र की है। क्योंकि 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में एरण्ड को ही बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा-सा पढ़ा वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्यावर्त्त देश की ओर देखें तो उनकी बहुत न्यून गणना है। क्योंकि मैंने जर्मन निवासी के एक 'प्रिंसिपल' के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करने वाले भी बहुत कम हैं।

परम खेद का विषय तो यह है कि आज भारत के स्वतन्त्र होने पर भी तथाकथित पाश्चात्त्य संस्कृत सेवकों की संस्कृत सेवा (?) की प्रशंसा करते हुए भारतीय विद्वान् नहीं अघाते। हमारा शासन भी उन ग्रन्थों के पुनः प्रकाशन वा प्रसार में भारी सहयोग दे रहा है, जो प्रायः भारतीय इतिहास साहित्य वा संस्कृति को नष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं।

अब हम दो महाप्रसिद्ध भारतीय विद्वानों के ग्रन्थों से कुछ उद्धरण देखकर दिखाना चाहते हैं कि उक्त तथाकथित पाश्चात्त्य संस्कृत भाषा के सेवकों के ग्रन्थों को पढ़कर भारतीय विद्वानों के मस्तिष्क भी कितने विकृत हो गए हैं।

—The History of Sankrit Literature, Popular Ed., 1914, p. 189 foot-note; p, 300, foot-note.

डा० वै० का० राजवाडे महर्षि यास्ककृत निरुक्त शास्त्र जो वेदार्थ प्रक्रियाबोधक एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, के विषय में लिखता है—

(क) यह (निरुक्त) विज्ञान नहीं, विज्ञान की हँसी है ।[1]

(ख) निरुक्त का निर्वचनप्रकार एक भ्रममात्र है, वा मानव मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है ।[2]

(ग) मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि निरुक्त की निर्वचन विधि बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) है, और फिर भी आज तक यह अपना स्थान बनाए हुए हैं अर्थात् प्रतिष्ठित है ।[3]

(घ) निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, क्योंकि वह निर्वचन के गलत सिद्धान्त पर आश्रित हैं ।···इस सिद्धान्त के आश्रय से बहुत से निर्वचन गढे गये हैं ।[4]

(ङ) जिन शब्दों का निर्वचन युक्त है, ऐसे संख्या में अत्यल्प हैं ।[5]

अब दूसरे परम भाषाविद् माने गये डा० सिद्धेश्वर वर्मा का यास्कीय निरुक्त के सम्बन्ध में क्या मत है, सो देखिए—

(क)··· इनसे प्रकट है कि यास्क का निर्वचन करने वा दिखाने का जोश पागलपन (झक या सनक) की सीमा तक पहुँच चुका था ।[6]

(ख) यास्क इस प्रकार का भारी निर्वचन कर्त्ता था कि निर्वचन करने में उसके पागलपन ने उसकी विचारशक्ति को, कल्पनाशक्ति की

---

1. "It is not a science but travesty of science." (भूमिका पृ० ४१)

2. "The Nirukta method of derivation is simply an aberration or a waste of the human intellect." (भूमिका पृ० ४१)

3. "I venture to say that Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day."

(भूमिका पृ० ४१)

4. "Numbers of etymologies in the Nirukta seem senseless because they are based on a wrong theory of derivations...... On account of this theory number of derivation are really inventions." (भूमिका पृ० ४३)

5. "Words whose derivations are sensible are limited in number." (भूमिका पृ० ४३)

6. "......Shows that he (Yaska) had a passion a craze for etymology." (एटीमोलोजी आफ यास्क पृ० ३)

कमी के कारण परे फेंक दिया, दास बना दिया और कुचल दिया, यह बात ध्यान देने योग्य है। उस इसकी भारी कमी के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल, दोषपूर्ण और भद्दे हैं।[1]

ये हैं पाश्चात्त्य विद्वानों के अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के मत। जो महानुभाव इन दोनों विद्वानों के निरुक्त विषयक विचार जानना चाहें वे वेदवाणी (काशी) वर्ष ९ अं० १ (वेदांक) में स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का 'निरुक्त विषय में पाश्चात्य मत की मौलिक भूल वा अनधिकार चेष्टा—पाश्चात्त्यों के मानस पुत्र' लेख देखें। इस विषय पर हमने भी वेदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में प्रकाश डाला है और यास्कीय निर्वचनों की वैधता दर्शाई है।

वास्तविक बात यह है कि ये विद्वान् निरुक्त शास्त्र का क. ख. भी नहीं जानते। यास्कीय निर्वचनों को जो कि वास्तव में अर्थ-निर्वचन हैं, शब्द-निर्वचन समझते हैं। शब्द-निर्वचन व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन है। इस प्रकार ये दो विभिन्न स्वतन्त्र विद्यास्थान शास्त्रों को स्वीय अज्ञान से मिला देते हैं और उसी के फलस्वरूप निरुक्तकार यास्क की आलोचना करने पर उतारू हो जाते हैं। इन महानुभावों में अहंभाव कितना है, यह तो इनके आचार्य यास्क के प्रति व्यवहृत शब्दों से ही व्यक्त हो जाता है। अस्तु,

यद्यपि अनेक महानुभावों को यह लेख अप्रासङ्गिक प्रतीत होगा, परन्तु यह सब हमें इसलिए लिखना पड़ा है कि हमारे संस्कृत विद्वान् और अध्येता इस संघर्षमय काल में भी कूप-मण्डूक बने हुए हैं। उन्हें इस बात का परिज्ञान ही नहीं है कि उनके वाङ्मय, संस्कृत भाषा वा इतिहास को नष्ट करने के लिए लगभग १५० वर्षों से कितना भारी कुचक्र पाश्चात्य विद्वानों ने चला रखा है और उनकी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके हमारे भारतीय विद्वान् का मस्तिष्क भी कितना विकृत हो चुका है। अब समय आ गया है कि प्राचीन परम्परानुसारी संस्कृत विद्वान् पाश्चात्त्य विद्वानों और उनके मानस पुत्रों से भारतीय संस्कृत वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हों। पारस्परिक भेद-

---

1. "Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered enslaved and crushed his imagination, far poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer superfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies." (एटीमोलोजी आफ यास्क पृ० ८)

भावों की उपेक्षा करके एकमत होकर जिस ढंग से भारतीय वाङ्मय, संस्कृति वा इतिहास को नष्ट करने का आयोजन किया है, उसी ढंग से उनका निराकरण किया जाए।

अब हम इस प्रसंग को यहीं छोड़कर पाणिनीय व्याकरण के विषय में संक्षेप से लिखते हैं।

संस्कृत वाङ्मय की विपुलता

संस्कृत वाङ्मय किसी समय अतिविशाल था। वैदिक शाखाओं की भारत-युगीन महर्षियों द्वारा प्रोक्त शाखाओं की ही ११३१ संख्या थी, इतने ही इनके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा कल्पसूत्र (श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र) थे। भारत-युद्ध काल से पूर्ववर्ती महर्षियों द्वारा प्रोक्त वैदिक वाङ्मय, जिसकी ओर भगवान् पाणिनि ने 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४।३।१०५) सूत्र में पुराण शब्द से संकेत किया था वह इससे पृथक् था, उसका तो इस समय ज्ञान ही नहीं। केवल एक ऐतरेय ब्राह्मण ऐसा मिलता है जो मूलरूप से भारतयुद्ध से लगभग सवा हजार वर्ष प्राचीन है और जिसका वर्तमान रूप भारतयुगीन आचार्य शौनक द्वारा संस्कृत है। हाँ, प्रातिशाख्यों में प्राचीन वाल्मीकि प्रभृति महर्षियों द्वारा प्रोक्त कतिपय शाखाओं का संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। वायुपुराण के अनुसार द्वापर युग के २८ परिवर्तों में २८ व्यासों द्वारा वैदिक वाङ्मय का २८ बार प्रवचन हुआ। इन २८ व्यासों के नाम पुराण में उल्लिखित हैं और इनमें से कतिपय व्यासों द्वारा प्रोक्त शाखाओं की सत्ता प्रतिशाखाओं से भी प्रमाणित होती है। भगवान् पतञ्जलि द्वारा महाभाष्य के आरम्भ में निर्दिष्ट सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय भारतयुद्धकालीन अन्तिम २८ वें व्यास भगवान् कृष्ण द्वैपायन मुनि के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं। इस अन्तिम विशाल वैदिक प्रवचन में से भी सम्प्रति गिने-चुने ही कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

उक्त वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त विद्या के विविध क्षेत्रों की कोई भी ऐसी शाखा न थी जिसमें प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना न हुई हो। आर्यों के प्रमाद वा विधर्मियों द्वारा संस्कृत वाङ्मय के नष्ट किये जाने वा कालकवलित होने से जो संस्कृत ग्रन्थ राशि इस समय भी अवशिष्ट है वह भी संसार की किसी भी प्राचीन भाषा के वाङ्मय से अत्यधिक विशाल प्राचीन तथा उत्कृष्टतम है।

संस्कृत भाषा का व्याकरण

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण शास्त्र का अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन काल से इसकी वेदाङ्गों में गणना की जाती है और 'मुखं व्याकरणं स्मृतं' कह कर इसे मुखस्थानीय माना गया है। भगवान् पतञ्जलि ने भी लिखा है—

'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम् ।'——महा० पस्पशाह्निक.

व्याकरण शास्त्र को यह महत्त्व तो उस समय प्राप्त था जब संस्कृत जन-साधारण की भाषा थी। अब जब कि संस्कृत भाषा केवल विद्वत्समाज की भाषा रह गई, तब व्याकरण शास्त्र का महत्त्व पूर्वापेक्षया शतगुणित अधिक हो जाता है। अब तो संस्कृत भाषा के परिज्ञान का यही एकमात्र मुख्य आधार है। भट्ट कुमारिल ने आज से न्यूनातिन्यून १४ सौ वर्ष पूर्व लिखा था——

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च ।–तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृ० २३९ पूना सं०।

यह स्थिति आज के काल में और अधिक रूप में मननीय है।

व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय से यह व्यक्त है कि सभी शास्त्रों का आद्योपदेश भगवान् ब्रह्मा ने किया था। तत्पश्चात् भगवान् शिव और सुरगुरु बृहस्पति ने व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया। यहीं से व्याकरण शास्त्र के शैव वा बार्हस्पत्य अथवा ऐन्द्र (=गुरु परम्परा) सम्प्रदाय चले। पाणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का माना जाता है और कातन्त्र बार्हस्पत्य अथवा ऐन्द्र सम्प्रदाय का।

वैदिक वाङ्मय से यह भी प्रमाणित होता है कि शब्दोपदेश के लिए प्रकृति प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम बृहस्पति के शिष्य देवराज इन्द्र ने की। तत्पश्चात् यही प्रक्रिया शैव सम्प्रदाय द्वारा भी आहृत कर ली गई।

देवराज इन्द्र से लेकर भगवान् पाणिनि पर्यन्त अनेक प्राचीन आचार्यों ने व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया, परन्तु दुर्भाग्य से प्राचीन आर्ष व्याकरणों में से केवल सब से अन्तिम पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्गपूर्ण उपलब्ध होता है। पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के तो पूरे नाम भी ज्ञात नहीं हैं।

वर्षों की गवेषणा के पश्चात् हम पाणिनि से पूर्ववर्ती वा समकालिक केवल २६ आचार्यों के नामों के परिज्ञान में समर्थ हो सके। इनमें से भी १० आचार्य स्वयं पाणिनि द्वारा स्व-तन्त्र में स्मृत हैं।[1]

---

१. इन २६ आचार्यों के विषय में हमने 'सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास' अ० ३–४ में विस्तार से लिखा है।

यदि प्रातिशाख्यों वा अन्य तत्सदृश लक्षण-ग्रन्थों की भी गणना व्याकरण शास्त्र में कर ली जाए (जो कि वैदिक नियम बोधक होने से युक्त है) तो उपलब्ध वा अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ताओं की १७ संख्या[1] और जोड़ने पर पाणिनि से प्राचीन ज्ञात व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों की संख्या ४३ हो जाती है।

उपलब्ध प्रातिशाख्यों में लगभग ६० प्राचीन आचार्यों के वैदिक व्याकरण विषयक नियम वा मत निर्दिष्ट हैं।[2] उनकी गणना करने पर भी प्राचीन परिज्ञात आचार्यों की संख्या केवल १०३ ही होती है। इनमें कुछ नाम पुनरावृत्त हैं, अतः अवशिष्ट नाम ९७ ही ऐसे रहते हैं जिन्हें हम व्याकरण प्रवक्ता के रूप में जानते हैं।

प्रथमनिर्दिष्ट प्राक्पाणिनीय २६ आचार्यों में से जिनके सूत्र वा मत वा ग्रंथ हमें उपलब्ध हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—इन्द्र—दो सूत्र।

२—भागुरि—१० सूत्र।

३—चारायण—१ सूत्र।

४—काशकृत्स्न—१४२ सूत्र, धातुपाठ सम्पूर्ण, चन्नवीर कविकृत कर्नाटक टीका सहित।

५—माध्यन्दिनि—१ मत।

६—शौनकि—३ मत।

७—व्याडि—१ मत।

८—आपिशलि—११ सूत्र ९ मत।

९—गालव—१ मत।

१०—शाकटायन—१ मत।

आपिशलि, गालव और शाकटायन तथा अन्य ७ आचार्य, जिनके मत पाणिनीय अष्टक में स्मृत हैं उनसे अतिरिक्त उन मतों वा सूत्रों का हमने निर्देश किया है, जो हमें अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं।[3]

---

१. द्र० सं० व्या० शा० इतिहास अ० २, पृष्ठ ६७-६८।

२. द्र० सं० व्या० शा० इतिहास अ० २, पृष्ठ ६९–७२।

३. इन आचार्यों के सूत्रों वा मतों के लिए हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' अ० ३, ४ देखें।

पाणिनीय व्याकरण

प्राचीन आर्ष शब्दानुशासनों में एक मात्र पाणिनीय व्याकरण ही ऐसा है जो सम्प्रति सर्वांगपूर्ण उपलब्ध होता है। यद्यपि यह प्राचीन आर्ष व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है, तथापि वैदिक और लौकिक उभयविध संस्कृत वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकाशस्तम्भ है। यह साधु शब्दरूपी महार्णव में विचरने वाले मानवरूपी पोतों को अपशब्दरूपी प्रच्छन्न शैलसमूहों से बचाता हुआ साधुशब्दसंग्रह रूपी इष्ट स्थान का मार्ग प्रदर्शन करता है।

इस संक्षिप्ततम आर्ष पाणिनीय व्याकरण को देखकर ईसाईमत-पक्षपाती पाश्चात्य विद्वान् चकित हैं। वे इसकी रचनासौष्ठव से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें न चाहते हुए भी इसकी प्रशंसा करनी पड़ी। यथा—

१—ईसाई मत के प्रचार में सहायता देने के उद्देश्य से संस्कृत इंगलिश कोश का रचयिता मोनियर विलियम कहता है—'संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा।'[1]

२—वैदिक वाङ्मय की प्रामाणिकता वा वैदिक धर्म को नष्ट करने के उद्देश्य से ऋग्वेद सायण-भाष्य आदि के सम्पादक मैक्समूलर लिखते हैं कि—'हिन्दुओं के व्याकरण अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण साहित्य से बढ़-चढ़ कर है।'

३—कोलब्रुक का मत है—'व्याकरण के नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाए गये थे और उनकी शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी।'

४—सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर का मत है—'संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्वय-सिद्धान्त और प्रयोग-विधियाँ अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।'

५—लेनिनग्राड के प्रो० टी० शेरवातसकी ने पाणिनीय व्याकरण का कथन करते हुए उसे 'इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक' बताया है।

पाणिनि का काल

पाश्चात्य विद्वानों वा तदनुयायी भारतीय विचारकों ने पाणिनि का काल विक्रम से ३ शती से लेकर ५ शती पूर्व तक माना है। यह काल-गणना उस

---

१. यह तथा अगले तीन उद्धरण 'महान् भारत' पुस्तक के पृष्ठ १४९-१५० तक उद्धृत हैं।

ऐतिहासिक रूप के अनुसार है जिस ईसाई-मत-पक्षपाती विद्वानों ने मानव की उत्पत्ति ईसा से ६००० वर्ष पूर्व मानकर कल्पित किया है। इस कल्पना को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालिकता बड़े प्रयत्न से सिद्ध करने का प्रयास किया है।

भारतीय अवच्छिन्न परम्परा-सिद्ध सत्य ऐतिह्य के अनुसार पाणिनि मुनि का काल वि० सं० के आरम्भ से २९०० वर्ष पूर्व अर्थात् भारत युद्ध से २०० वर्ष उत्तर है। इस काल के निदर्शन के लिए हमने 'सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में अन्तरंग और बहिरंग अनेक प्रमाण दिए हैं, पाठक उन्हें वहीं देखें।

पाणिनीय व्याकरण के व्याख्या ग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरण पर तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए—वृत्ति, वार्तिक, वा भाष्य।

वृत्ति शब्द का अर्थ पतञ्जलि ने **शास्त्रप्रवृत्ति** किया है[1] और सूत्र-व्याख्यान के अन्तर्गत उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार का समावेश दर्शाया है।[2] सृष्टिधराचार्य ने भाषावृत्ति की विवृति के आरम्भ में पञ्चविध व्याख्यान कहा है। तदनुसार (१) पदच्छेद, (२) पदार्थकथन, (३) समास का विग्रह, (४) वाक्ययोजना=सूत्रार्थ, (५) पूर्वपक्ष और समाधान, ये पाँच अवयव होते हैं[3]। कई व्यक्ति पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष को पृथक्-पृथक् गिनकर षड्विध व्याख्यान कहते हैं। हमारे विचार में वृत्ति में पदच्छेद, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अर्थ और उदाहरण, ये पाँच[4] अवयव आवश्यक हैं। प्रत्युदाहरण शङ्का-समाधान का विषय भाष्य ग्रन्थान्तर्गत आ जाता है। सूत्रों पर सर्वप्रथम वृत्ति ग्रन्थों की रचना हुई।

---

१. का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः। महा० पस्पशाह्निकान्ते। वृत्तिः शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः। कैयटः, महाभाष्यप्रदीप अ इ उ ण् सूत्र।

२. न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐज् इति। किं तर्हि उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति। महा० पस्पशाह्निक।

३. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्॥

४. पदच्छेदः पदार्थश्च विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

प्रदीपोद्योतछाया के आरम्भ में।

वार्तिक शब्द का अर्थ है **वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्** अर्थात् वृत्ति का व्याख्यान अथवा **वृत्तेरिदं वार्तिकम्** वृत्ति से सम्बद्ध रचना। अर्थात् वृत्ति को लक्ष्य में रख कर जो ग्रन्थ लिखा गया वह वार्तिक कहाता है। वार्तिक ग्रंथ में सूत्र और वृत्ति ग्रन्थ द्वारा उक्त, अनुक्त और दुरुक्त इन तीन अंगों पर प्रधान रूप से विचार किया जाता है।[1] वार्तिक का यह लक्षण प्रधानतया शबर भाष्य आदि भाष्य ग्रन्थों पर लिखे गये वार्तिक ग्रन्थों में लिए उपयुक्त है।

भाष्य शब्द का अर्थ है—आक्षेप करके समाधान का कहना।[2] पराशर उपपुराण के अनुसार 'सूत्रानुकारी वाक्यों अर्थात् वार्तिकों द्वारा जहाँ सूत्रार्थ का और अपने पदों का वर्णन हो' वह भाष्य कहाता है।[3]

पाणिनीय व्याकरण पर उक्त तीनों प्रकार के अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। उनमें से कतिपय ज्ञात और प्रसिद्ध ग्रन्थों का हम नीचे नाममात्र लिखते हैं जिनसे पाणिनीय व्याकरण के ज्ञात वा उपलब्ध वाङ्मयका कुछ ज्ञान हो जाए।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

१. पाणिनि	१३. भागवृत्ति	२५. विश्वेश्वर सूरि
२. श्वोभूति	१४. भर्त्रीश्वर	२६. गोपालकृष्ण शास्त्री
३. व्याडि	१५. जयन्त भट्ट	२७. गोकुलचन्द्र
४. कुणि	१६. केशव	२८. ओरम्भट्ट
५. माथुर	१७. इन्दुमित्र	२९. दयानन्द सरस्वती
६. वररुचि	१८. मैत्रेयरक्षित	३०. अप्पननैनार्य
७. देवनन्दी	१९. पुरुषोत्तमदेव	३१. नारायण सुधी
८. चुल्लि भट्टि	२०. शरणदेव	३२. रुद्रधर
९. निर्लूर	२१. भट्टोजिदीक्षित	३३. उदयन
१०. चूर्णि	२२. अप्पयदीक्षित	३४. उदयङ्करभट्ट
११. जयादित्य	२३. नीलकण्ठ वाजपेयी	३५. रामचन्द्र
१२. वामन	२४. अन्नंभट्ट	३६. सदानन्दनाथ

इनके अतिरिक्त ९ वृत्तियाँ और मिलती हैं जिनके नाम अज्ञात हैं।

---

१. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥ उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। काव्यमीमांसा।

२. आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्। काव्यमीमांसा।

३. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥ प्रदीपोद्द्योत छाया के आरम्भ में उद्धृत।

अभिनववृत्तियाँ—इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी पर ५-६ वृत्तिग्रन्थ इधर ४० वर्षों में और भी लिखे गए हैं। इनमें स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासुकृत अष्टाध्यायी भाष्य। (प्रथमावृत्ति) सबसे प्रमुख है। इसमें प्रतिसूत्र पदच्छेद विभक्ति समासविग्रह अनुवृत्ति अर्थ उदाहरण और उदाहरण की साधनिका का निर्देश किया है। साथ में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है।

काशिका के व्याख्याकार—अष्टाध्यायी की प्राचीन उपलब्ध वृत्तियों में काशिका सबसे प्रधान और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस पर जिनेन्द्रबुद्धि, इन्दुमित्र, विद्यासागर मुनि, हरदत्त प्रभृति अनेक विद्वानों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं।

शब्दकौस्तुभ के व्याख्याकार—भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ नामक वृत्तिग्रन्थ पर सात विद्वानों ने व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार अष्टाध्यायी पर लिखी गई वृत्तियाँ और उनके व्याख्यान आदि ग्रन्थों की संख्या लगभग ७० होती है।

प्रक्रिया-ग्रन्थकार—वृत्ति ग्रन्थों से ही सम्बन्ध रखनेवाले वे प्रक्रिया ग्रन्थ हैं जिनमें पाणिनीय सूत्रों को शब्दप्रक्रियानुसार यथास्थान निबद्ध करके सूत्रों की व्याख्या और सूत्रों का प्रयोजन दर्शाया है। प्रक्रियाग्रन्थकारों में निम्न ग्रन्थकार प्रधान हैं—

१. धर्मकीर्ति (रूपावतार)
२. विमलमति (रूपमाला)
३. रामचन्द्र (प्रक्रियाकौमुदी)
४. भट्टोजिदीक्षित (सिद्धान्तकौमुदी)
५. नारायणभट्ट (प्रक्रियासर्वस्व)
६. वरदराज (लघुमध्यकौमुदी)

इन ग्रन्थों पर विशेष करके प्रक्रियाकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी पर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए। इस प्रकार प्रक्रिया ग्रन्थ और उन पर लिखे गए व्याख्या अनुव्याख्या ग्रन्थों को मिलाकर लगभग ५० ग्रन्थ होते हैं।

प्रक्रियाग्रन्थों से सम्बद्ध ग्रन्थों को मिलाकर पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखी गई वृत्तियाँ और उनके व्याख्यानादि ग्रन्थों की संख्या लगभग १२५ (सवा सौ) तक पहुँचती है।

वार्तिककार

अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्तिक ग्रन्थ लिखे थे। महाभाष्य तथा उसके व्याख्या-ग्रन्थों से जिन वार्तिककारों का ज्ञान होता है वे निम्नलिखित हैं—

१. कात्यायन
२. भारद्वाज
३. सुनाग
४. क्रोष्टा
५. वाडव
६. व्याघ्रभूति
७. वैयाघ्रपद्य

ये वार्तिककार भारतीय ऐतिह्य के अनुसार भारतयुद्ध के २००-३०० वर्ष अनन्तर हुए हैं।

महाभाष्य में निम्न आचार्यों का और उल्लेख मिलता है—

१. गोनर्दीय   ३. कुणरवाडव्   ५. भवन्तः (?)

२. गोणिकापुत्र   ४. सौर्य भगवान्

सम्भव है ये भी वार्तिककार रहे हों। अनेक आचार्य तो गोनर्दीय और गौणिकापुत्र पतञ्जलि के ही नामान्तर हैं, ऐसा मानते हैं, परन्तु यह मत प्रमाणविरुद्ध होने से चिन्त्य है।

वार्तिकों के व्याख्याकार—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कई स्थानों पर एक वार्तिक की **एके अपरे** कहकर अनेक प्रकार की व्याख्याएँ दर्शाईं हैं। उनसे विदित होता है कि महाभाष्य से पूर्व वार्तिकों पर अनेक व्याख्याएँ लिखी जा चुकी थीं। उनके अतिरिक्त वार्तिकों के निम्न भाष्यकार और हैं—

१. हेलाराज   २. राघव सूरि   ३. राजरुद्र।

इस प्रकार अष्टाध्यायी पर लिखे गये वार्तिक ग्रन्थ और उनके व्याख्या ग्रंथों की न्यूनातिन्यून २० संख्या होती है।

भाष्यकार

महाभाष्य में दो स्थानों पर **उक्तो भावभेदो भाष्ये**[1] कथन उपलब्ध होता है। कैयट आदि व्याख्याकार यहाँ भाष्य शब्द से ३।१।६७ के महाभाष्य का संकेत मानते हैं। परन्तु हमारा विचार भिन्न है। पतञ्जलि यहाँ किसी पूर्ववर्ती भाष्य की ओर संकेत कर रहे है। यथा—**संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्**[2] में संग्रह ग्रन्थ का निर्देश है।

महाभाष्य शब्द में प्रयुक्त महत् विशेषण भी तभी उपयुक्त होता है जब कोई उससे लघु भाष्य ग्रन्थ हो। प्राचीन वाङ्मय में जहाँ-जहाँ महत् विशेषण प्रयुक्त है वहाँ वहाँ दो-दो प्रकार के ग्रन्थ अभिप्रेत हैं। यथा—ऐतरेय महैतरेय, कौषीतकि महाकौषीतकि, भारत महाभारत।[3]

वार्तिकों की व्याख्याएं ही भाष्य शब्द से अभिप्रेत हों तो पूर्व कही वार्तिक की व्याख्याओं में से किसी व्याख्या की ओर पतञ्जलि का संकेत रहा होगा।

---

१. महाभाष्य ३।३।१० ॥ ३।४।६७ ॥

२. महाभाष्य पस्पशाह्निक।

३. कौषीतकिगृह्य० ४।५।३ ॥ आश्व० गृह्य० ३।४।४ ॥

महाभाष्यकार पतञ्जलि—सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि विरचित एक ही भाष्यग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह विपुलकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है।

महाभाष्य का गौरव—यद्यपि महाभाष्य पाणिनीय तन्त्र का व्याख्या-ग्रन्थ है पुनरपि यह अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि बोलचाल की अत्यन्त सरल है पुनरपि कहीं-कहीं भावगाम्भीर्य अत्यधिक है। व्याख्याकार ऐसे स्थानों पर या तो हतप्रभ हो जाते हैं या विभिन्न प्रकार की व्याख्या करते हैं। अतः ऐसे स्थान आजतक दुरूह ही हैं।

पतञ्जलि का काल—पाश्चात्य विद्वान् पतञ्जलि को पुष्यमित्र का समकालिक मानते हैं और पुष्यमित्र का काल ईसा से १५० पूर्व स्वीकार करते हैं। भारतीय परम्परानुसार दोनों ही बातें अशुद्ध हैं। भारतीय काल-गणनानुसार पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि महाभाष्य का वर्तमान पाठ चन्द्राचार्य द्वारा परिष्कृत है। चन्द्राचार्य का काल पाश्चात्य विद्वान् १०० ईसापूर्व से लेकर ४०० ईसा पश्चात् तक मानते हैं। चन्द्राचार्य ने कश्मीराधिप अभिमन्यु के आदेश से विलुप्त महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था। कश्मीर देश की राजतरङ्गिणी के अनुसार अभिमन्यु का काल लगभग १२०० विक्रमपूर्व है। यतः महाभाष्य का वर्तमान ग्रन्थ चन्द्राचार्य द्वारा पुनः संस्कृत है, अतः पुष्यमित्र नाम के प्रयोग मात्र से महाभाष्यकार को पुष्यमित्र का समकालिक मानना अयुक्त है।

हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में पतञ्जलि के काल-निर्धारण करने के लिए अनेक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाण दिए हैं। तदनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून २००० (दो सहस्र) वर्ष पूर्व होना चाहिए। इस काल निर्धारण के विषय में सं०व्या०शा० का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३१८-३२९ (द्वि० सं०) तक विस्तार से लिखा है। पाठकों से निवेदन है कि इस विषय को वहीं देखें।

महाभाष्य के व्याख्याकार

महाभाष्य पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखीं। उनमें से निम्न ग्रन्थकारों के व्याख्याग्रन्थ ज्ञात वा उपलब्ध है—

१. भर्तृहरि
२. कैयट
३. ज्येष्ठकलश (?)
४. मैत्रेयरक्षित
५. पुरुषोत्तमदेव
६. धनेश्वर
७. शेषनारायण
८. विष्णुमित्र
९. नीलकण्ठ वाजपेयी
१०. शेषविष्णु
११. शिवरामेन्द्र सरस्वती
१२. प्रयागवेङ्कटाद्रि

१३. तिरुमल यज्वा	१५. राजन् सिंह	१७. सर्वेश्वर दीक्षित
१४. कुमार तातय	१६. नारायण	१८. गोपालकृष्ण शास्त्री

इनके अतिरिक्त ३-४ टीकाग्रन्थ और उपलब्ध हैं, जो अज्ञातकर्तृक हैं।

इन टीकाओं में कैयट विरचित महाभाष्य-प्रदीप नामक टीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर निम्न विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं—

१. चिन्तामणि	६. नारायण शास्त्री	११. आदेन्न (?)
२. नागनाथ	७. नागेशभट्ट	१२. नारायण
३. रामचन्द्र सरस्वती	८. मल्लययज्वा	१३. सर्वेश्वर सोमयाजी
४. ईश्वरानन्द सरस्वती	९. रामसेवक	१४. हरिराम
५. अन्नंभट्ट	१०. प्रवर्तकोपाध्याय	१५. अज्ञातकर्तृक (?)

नागेश भट्ट विरचित प्रदीपोद्योत पर वैद्यनाथ पायगुण्ड ने छाया नामक व्याख्या लिखी है।

इस प्रकार महाभाष्य की व्याख्या और अनुव्याख्या के रूप में लगभग ३५ ग्रन्थ उपलब्ध वा ज्ञात हैं। पूर्व-वृत्ति ग्रन्थों की १२५ संख्या में वार्तिककार, वार्तिकों के भाष्यकार, महाभाष्य और उनके टीका-अनुटीका ग्रन्थों की संख्या जोड़ने पर ग्रन्थ-संख्या १७० होती है।

पाणिनीय व्याकरण पर अन्य ग्रन्थ

दार्शनिक ग्रन्थ—पाणिनीय व्याकरण पर भगवान् पतञ्जलि से पूर्व महा-वैयाकरण व्याडिमुनि ने एकलक्ष श्लोकात्मक संग्रह नामा ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। महामुनि व्याडि पाणिनि के मामा वा मामा के साक्षात् पुत्र हैं।

संग्रहग्रन्थ व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ माना जाता है। उसी के आधार पर भर्तृहरि ने तीन काण्डात्मक वाक्यपदीय नामा अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा। इसके प्रथम दो काण्डों पर भर्तृहरि का स्वोपज्ञविवरण भी प्राप्य है।

वाक्यपदीय के आधार पर वैयाकरण भूषण लघुमञ्जूषा आदि अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध लगभग २४-२५ ग्रन्थ वा उनके व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

अष्टाध्यायी के खिलपाठ और उनके व्याख्याता

अष्टाध्यायी के धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासन ये चार खिलपाठ कहाते हैं। इनके अतिरिक्त परिभाषापाठ भी पाणिनीय व्याकरण का

एक अङ्ग है। इन खिलपाठों पर भी अनेक विद्वानों ने व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। यथा—

धातुपाठ के व्याख्याता—पाणिनीय धातुपाठ के निम्न व्याख्याताओं के ग्रन्थ ज्ञात वा उपलब्ध हैं—

१. पाणिनि	५. राजश्री	९. हरियोगी
२. सुनाग	६. नाथ	१०. दैव
३. भीमसेन	७. क्षीरस्वामी	११. सायण
४. नन्दी स्वामी	८. मैत्रेयरक्षित	

इनके अतिरिक्त प्रक्रियाकौमुदी सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों में भी धातु पाठ की व्याख्या की गयी है। इन प्रक्रियाग्रन्थों और उन पर लिखे गये ग्रन्थों का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।

गणपाठ—गणपाठ पर भी जिन आचार्यों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे, उनमें से निम्न ग्रन्थकारों के नाम ज्ञात हैं—

१. पाणिनि	४. पुरुषोत्तमदेव	७. गणकारिकाकार–रासिकर
२. नामपारायणकार	५. यज्ञेश्वरभट्ट	८. गणसंग्रहकार
३. क्षीरस्वामी	६. श्लोकगणकार	९. गणपाठकार–रामकृष्ण

उणादिपाठ—पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध उणादिपाठ के दो पाठ हैं–दशपादी और पञ्चपादी। इनके निम्न व्याख्याता हैं—

दशपादी के व्याख्याता—दो अज्ञात कर्तृक (एक व्याख्या हमारे द्वारा सम्पादित है, और दूसरी हमारे पास हस्तलिखित है) तथा प्रक्रिया कौमुदी की प्रसाद नाम्नी व्याख्या के अन्तर्गत। इस प्रकार दशपादी पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं।

पञ्चपादी के व्याख्याकार—उणादि के पञ्चपादी पाठ पर निम्न विद्वानों की व्याख्याएँ ज्ञात वा उपलब्ध हैं—

१. भाष्यकार (?)	७. श्विद्याशील	१३. वेङ्कटेश्वर
२. गोवर्धन	८. श्वेतवनवासी	१४. पेरूसूरि
३. दामोदर	९. भट्टोजिदीक्षित	१५. नारायण सुधी
४. पुरुषोत्तमदेव	१०. नारायणभट्ट	१६. शिवराम
५. सूतिवृत्तिकार	११. महादेववेदान्ती	१७. रामशर्मा
६. उज्ज्वलदत्त	१२. रामभद्रदीक्षित	१८. दयानन्द सरस्वती

इनके अतिरिक्त ४-५ अन्य अविज्ञातकर्तृक व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। कतिपय व्याख्याओं पर लिखी गई अनुव्याख्याओं की संख्या जोड़ने पर पञ्चपादी के व्याख्याग्रन्थों की संख्या ३५ के लगभग हो जाती है।

लिङ्गानुशासन के व्याख्याता—लिङ्गानुशासन पर निम्न व्याख्याकारों की व्याख्यायें ज्ञात वा उपलब्ध हैं—

१. उत्पलभट्ट	३. भट्टोजिदीक्षित	५. नारायणसुधी
२. रामचन्द्र	४. नारायणभट्ट	६. तारानाथ-तर्कवाचस्पति

परिभाषापाठ के व्याख्याता—परिभाषापाठ के निम्न ग्रन्थकारों के नाम ज्ञात वा इनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१. हरदत्त	६. नीलकण्ठ	१२. उदयंकरभट्ट
२. पुरुषोत्तमदेव	७. भीम	१३. नागेशभट्ट
३. सीरदेव	८. वैद्यनाथ	१४. शेषाद्रिनाथसुधी
४. परिभाषा-विवरणकार	९. भाष्कर अग्निहोत्री	१५. रामप्रसाद द्विवेदी
	१०. भास्कर का शिष्य	१६. गोविन्दाचार्य
५. परिभाषावृत्तिकार	११. अप्पासुधी	१७. परिभाषाविवृत्तिकार

इन व्याख्याओं में से सीरदेव, नागेश तथा वैद्यनाथ की व्याख्या पर अनेक विद्वानों ने अनुव्याख्याएँ लिखी हैं। परिभाषा पाठ से सम्बद्ध लगभग ३० व्याख्या अनुव्याख्या (टीका) ग्रन्थ उपलब्ध वा ज्ञात हैं।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के खिलपाठों पर रचे गए ज्ञात वा उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग १०० है।

काव्यग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरण को लक्ष्य में रखकर निम्न विद्वानों ने ऐसे काव्य-ग्रन्थों की रचना की, जिससे पाणिनीय-व्याकरण-बोधित शब्दों के साधुत्व का परिज्ञान हो।

१. पाणिनि—जाम्बवतीविजय	६. नारायण—सुभद्राहरण
२. वररुचि—स्वर्गारोहण	७. वासुदेवकवि—वासुदेवचरित
३. पतञ्जलि—महानन्द	८. नारेरीवासुदेव—धातुकाव्य
४. भट्टभूम—रावणार्जुनीय	९. नारायणकवि—धातुकाव्य
५. भट्टिकवि—भट्टिकाव्य	

इनमें भट्टिकाव्य पर लगभग ९–१० व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ

अन्य काव्यों के भी व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध काव्य और व्याख्या-ग्रन्थों की संख्या लगभग २५ है।

यह है केवल पाणिनीय व्याकरण सम्बन्धी ज्ञात वा उपलब्ध वाङ्मय की सूची। इससे पाणिनीय व्याकरण के विशाल वाङ्मय का एक रेखाचित्र हमारी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

उत्तरकालवर्त्ती व्याकरण

पाणिनि के पश्चात् भी व्याकरण शास्त्र के प्रवचन की धारा अक्षुण्ण बनी रही। पाणिनीय तथा अन्य प्राचीन आर्ष शब्दानुशासनों से सहायता लेकर आचार्य चन्द्र-प्रभृति अनेक वैयाकरणों ने स्वीयतन्त्रों की रचना की। परन्तु इस उत्तरवर्ती व्याकरण की धारा में एक दो तन्त्रों को छोड़कर अन्य सभी में दो भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक वैदिक तथा स्वर प्रक्रिया का परित्याग और दूसरा प्राचीन परम्परागत लोकविज्ञात संज्ञाओं का परित्याग करके सभी नई संज्ञाओं को अपनाना। इससे दो हानियाँ हुई। एक इन नवीन व्याकरणों का अध्ययन करनेवालों का वैदिक वाङ्मय से सम्बन्ध टूट गया और दूसरा सम्पूर्ण नवीन संज्ञाओं के आश्रयण से शास्त्र जटिल वा क्लिष्ट हो गए।

नवीन वैयाकरणों द्वारा नवीन संज्ञाओं के निर्माण और प्रकरणादि परिवर्तन करने का एकमात्र प्रयोजन स्वीयविद्वत्ता का परिचय देना मात्र था। ऋषि मुनियों के सदृश ये महानुभाव विशाल हृदय न थे, जो पूर्वाचार्यों के वचनों को अपना लेते। यह है मौलिक भेद आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की रचना में। इसी कारण आर्षवाङ्मय के परम उद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित-ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है। महर्षि लोगों का आशय, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्पलाभ उठा सकें। जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना। सत्यार्थ प्रकाश समु० ३।

इन दोषों के साथ ही अनेक व्याकरण ऐसे बने जो बहुत साधारण स्तर के हैं। उनसे केवल व्याकरण के कतिपय सामान्य नियमों का ही बोध होता है। संस्कृतवाङ्मय का अवगाहन करने योग्य विद्वान् बनने में इनसे कुछ भी

सहायता नहीं मिलती। फल यह होता है कि छात्रों को इन ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् वैयाकरण बनने के लिए पुनः पाणिनीय व्याकरण का ही अध्ययन पड़ता है। इस प्रकार इन क्षुद्र ग्रन्थों के अध्ययन में छात्रों का समय वा परिश्रम व्यर्थ में नष्ट होता है।

पाणिनि के पश्चात् बहुत से विद्वानों ने स्वीय शब्दानुशासनों का प्रवचन या रचना की। उनमें से जिनके व्याकरण उपलब्ध वा ज्ञात हैं वे निम्न हैं—

१. कातन्त्रकार	७. पाल्यकीर्ति	१३. हेमचन्द्र सूरि
२. चन्द्रगोमी	८. शिवस्वामी	१४. क्रमदीश्वर, जुमरनन्दी
३. क्षपणक	९. महाराज भोजदेव	१५. अनुभूतिस्वरूपाचार्य
४. देवनन्दी, गुणनन्दी	१०. बुद्धिसागर सूरि	१६. सिद्धान्त-चन्द्रिकाकार
५. वामन	११. भद्रेश्वर सूरि	१७. वोपदेव
६. भट्ट अकलङ्क	१२. वर्धमान	१८. पद्मनाभदत्त

इनके अतिरिक्त अन्य १०–१२ अतिलघु व्याकरणों के रचयिता हैं। पूर्व निर्दिष्ट १८ वैयाकरणों के तन्त्रों पर व्याख्या अनुव्याख्या के रूप में अनेक ग्रन्थ बने। उनमें से ज्ञात व उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग १२५ सवा सौ है। इसी प्रकार इन व्याकरणों के धातुपाठ आदि खिलपाठों के व्याख्या ग्रन्थ भी लगभग ७०–७५ ज्ञात वा उपलब्ध हैं। इस प्रकार पाणिनि से उत्तरवर्ती व्याकरणों से सम्बद्ध ग्रन्थों की संख्या भी लगभग २०० तक पहुँचती है।

इन सबके अतिरिक्त व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध लगभग २०० ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका किसी विशिष्ट शब्दानुशासन के साथ सम्बन्ध न होने पर भी व्याकरण विषयक हैं।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण शास्त्र के ज्ञात वा उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग ९००–१००० के आस-पास पहुँचती है।

जिस संस्कृत वाङ्मय की एक व्याकरण-विभाग के ज्ञात वा उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग एक सहस्र हो, उसके अन्य विभागों के शास्त्रों के ज्ञात वा उपलब्ध वाङ्मय की कल्पना बड़ी सरलता से की जा सकती है। संस्कृत वाङ्मय के अनन्त-ग्रन्थों के कालकवलित होने पर भी जो ग्रन्थ-राशि बची है, उसकी संख्या न्यूनातिन्यून ५०००० (पचास सहस्र) है। इतना विशाल वाङ्मय संसार की किसी प्राचीन भाषा का नहीं है।

इतना ही नहीं, आज भी इस अजरा अमरा सुरभारती के सेवक अपनी कृतियों द्वारा इसके विशाल भण्डार को भर रहे हैं। यह संस्कृत वाङ्मय हम

भारतीयों का सर्वस्व हैं। इसी में हमारा धर्म संस्कृति वा इतिहास निहित है। इस कारण भाषा का अध्ययन करना प्रत्येक भारतीय का परम धर्म है।

आशा है सुरभारती के एक अङ्ग पर लिखे गए ग्रन्थों की हमारे द्वारा प्रस्तुत की गई रूपरेखा सुरभारती के गौरवमय अतीत की एक झलक उपस्थित करने में समर्थ होगी। जो महानुभाव संस्कृत-व्याकरण शास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास जानना चाहते हों वह हमारे द्वारा लिखा गया 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ देखें। इसके दो भाग जिनमें १००० एक सहस्र पृष्ठ हैं, छप चुका है और एक भाग अभी और छपेगा।

पाणिनीय तन्त्र का यन्त्रीकरण

मैं अभी-अभी भुवनेश्वर (उड़ीसा) के राजकीय पाणिनि महाविद्यालय के अल्पकालिक प्राचार्य पद से निवृत्त होकर हैदराबाद आत्मकूर (जि० कर्नल, आन्ध्र) की यात्रा करके अजमेर पहुँचा हूँ। इस यात्रा में मेरा हैदराबाद के एक ऐसे वयोवृद्ध और श्रुतवृद्ध विद्वान् से साक्षात्कार हुआ, जिन्होंने प्रयोग-सिद्धि में लगने वाले सूत्रों का निदर्शन कराने के लिए अष्टाध्यायी सूत्र क्रम के अनुरूप अष्टाध्यायी को विद्युत् यन्त्र में परिबद्ध किया है। जिसके द्वारा प्रयोग-सिद्धि में लगने वाले समस्त सूत्र बटन दबाते ही अध्याय पाद की संख्या का बोधन कराते हुए विद्युत् दीप (छोटे बाल्व) प्रकाशित हो उठते हैं। यद्यपि उनका यह कार्य प्रारम्भिक रूप में है, पुनरपि उनके वर्षों के चिन्तन और लगन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इन महानुभाव का नाम है श्री पं० गुण्डेराव हरकारे। ये संस्कृत, हिन्दी, मराठी, तेलगु, कर्नाटक, उर्दू, फारसी, अरबी और अंग्रेजी के महान् पण्डित हैं। इस समय इनका वयः ८० वर्ष है। आप हैदराबाद में सेशन जज भी रह चुके हैं।

इनका विस्तृत परिचय हमने वेदवाणी-पत्रिका के जुलाई १९६७ के अंक में दिया है।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
३१। १४४ अलवरगेट, अजमेर

अनुवादक का वक्तव्य

'शङ्काओं को सामने लाकर उन पर यथार्थ रीति से विचार करने के बाद सही-सही समाधान करना' यही व्याकरण शास्त्र के विचार की पुरानी परि-पाटी रही है। कात्यायन और पतञ्जलि इन दोनों आचार्यों ने इसी परिपाटी का अनुसरण कर अपने विचारों से पाणिनीय व्याकरण को समृद्ध बनाने का सत्प्रयास किया था। यों तो आचार्य पाणिनि ने अपने समय के कुल लौकिक वैदिक शब्दों के निर्वचन के लिए बड़ी ही 'सूक्ष्मेक्षिका' से अपनी अष्टाध्यायी का निर्माण कर दिया था, फिर भी कात्यायन एवं पतञ्जलि ने अपने-अपने व्याख्यानों द्वारा उस निर्वचन कार्य को साङ्गोपाङ्ग पूर्ण बनाने में बहुत बड़ी सहायता दी थी।

महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिकों का व्याख्यान तो किया ही गया है, स्वतन्त्र रूप से व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी बड़ी गम्भीरता के साथ हुआ है। व्याख्यान की ये दोनों ही शैलियाँ क्रमशः चूर्णिका और तण्डक कही गई हैं। एक-एक शब्द को अलग करके उसका अर्थ समझानेवाली शैली चूर्णिका कही गई है। इसी प्रकार सिद्धान्तों के ऊहापोह करने में उस भारी-भरकम, ओजस्वी सिंहमुखी शैली को तण्डक कहते हैं, जो हाथी के समान सारे शरीर को घुमाकर नागावलोकन दृष्टि से पीछे की ओर देखती हुई विषय से आमने-सामने जूझती है। (देखिए—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष' पृष्ठ ८)।

पाणिनीय व्याकरण का जो कुछ आदर-मान है, शास्त्रों में मुख्य स्थान प्राप्त है, इसके एकमात्र कारण कात्यायन और पतञ्जलि के वार्तिक और महा-भाष्य ही हैं। इन दोनों के अभाव में आचार्य द्वारा प्रवर्तित व्याकरण की यह सर्वोत्कृष्ट पद्धति संसार में कितनी समादृत होती यह इस परम्परा के विद्वान् भली-भाँति जानते हैं। इसीलिए पूरे पाणिनीय व्याकरण को 'त्रिमुनि' कहा जाने लगा। इतना ही नहीं, जहाँ इन तीनों में मतभेद होता है वहाँ सूत्र और वार्तिक की अपेक्षा महाभाष्य ही प्रमाणभूत माना जाता है। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात् (वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी)। यही कारण है कि प्राचीन और नवीन सभी पाणिनीय वैयाकरण पतञ्जलि के सामने नतमस्तक होकर अपना आदर प्रकट करते हैं।

ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि महाभाष्यकार ने चूर्णिका और तण्डक शैलियों को अपना कर अपना व्याख्यान पूरा किया है। इस कार्य में उनकी भाषा अत्यन्त सरल, सरस एवं प्राञ्जल है। कहीं भी शुष्कता, नीरसता अथवा लड़खड़ाहट देखने को नहीं मिलेगी। लंबे-लंबे समासों अथवा वाक्यों से रहित उनकी भाषा छोटी-छोटी लहरियों से युक्त गङ्गा के प्रवाह की भाँति निरन्तर बहती हुई मालूम पड़ती है। ऐसे भाषा-सौष्ठव के होते हुए भी इस ग्रन्थ का अर्थ-गाम्भीर्य सुप्रसिद्ध हैं। इस अर्थ-गाम्भीर्य को लेकर ही उसे अब्धि कहा गया था।

पातञ्जल महाभाष्य पर संस्कृत में २० टीकाएँ कही जाती हैं। उन टीकाओं में कैयट के प्रदीप की मान्यता सर्वाधिक है। नागेश भट्ट की सुप्रसिद्ध उद्योत व्याख्या इसी प्रदीप के ऊपर है। आज के युग में इन संस्कृत के व्याख्याओं से पूर्णतः लाभ होना संभव नहीं था, अतः इस गम्भीर ग्रन्थ पर कुछ दिनों से हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता समझी जा रही थी। कुछ भाग के अनुवाद हिन्दी में आ भी गये हैं। मैंने महामहोपाध्याय श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर एम० ए० के मराठी अनुवाद को देखा है। उनके इस महत् प्रयास के बाद भी मैंने इस कार्य में जो इतना श्रम किया है, इसकी सार्थकता-निरर्थकता का विचार अपने कृपालु समीक्षकों पर ही छोड़ता हूँ। हाँ, अपनी ओर से नम्रतापूर्वक एक बात अवश्य कहूँगा कि कई स्थानों पर मैं अभ्यंकर जी के अर्थों से सहमत नहीं हो सका हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे अनुवाद में जहाँ भी अर्थों के प्रतिपादन में (मेरे जानते) कमी रह गई है, मैंने पाद टिप्पणी द्वारा उस कमी को दूर करने का प्रयास किया है। पूरे अनुवाद में प्रसङ्गों के विश्लेषण छात्रों का ध्यान रख कर किये गये हैं। बहुतों को तो इन प्रसङ्गों की जानकारी में गड़बड़ी रहने से ही महाभाष्य की सरल एवं प्राञ्जल संस्कृत भी दुरूह जान पड़ती है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ऐसे लोगों को मेरे इस अनुवाद से पूरा लाभ पहुँचेगा।

इस अनुवाद के प्रस्तुत किये जाने में दो संस्थाओं का प्रमुख हाथ रहा है। इनमें पहली संस्था है श्री सोमेश्वरनाथ संचालक मण्डल, अरेराज, चम्पारण (बिहार) का अनुसन्धान विभाग और दूसरी है चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी। इन दोनों संस्थाओं का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। क्योंकि जहाँ संचालक मण्डल के संस्थापक महन्त श्री शिवशङ्कर गिरि की प्रेरणा से मैं इस कार्य को करने में प्रवृत्त हो सका, वहाँ चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के अध्यक्ष सेठ श्री जयकृष्णदास जी की उदारता से

इसका प्रकाशन संभव हो सका, एतदर्थ ये दोनों ही महानुभाव धन्यवादार्ह हैं। "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" नामक ग्रन्थ के सफल रचयिता महावैयाकरण श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने अपनी प्रस्तावना लिखकर इस संस्करण को सुसज्जित किया है, उसके लिए मीमांसकजी का सावनत आभारी हूँ।

अन्त में मैं लघुमञ्जूषा में नागेश भट्ट द्वारा उद्धृत इस श्रुति-वचन को देकर इस संक्षिप्त वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वाम् एकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
तामन्ये विदुरन्यामिव च नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥

गङ्गादशहरा
सं० २०२४ वि०

मधुसूदनप्रसाद मिश्र
(अरेराज, चम्पारण)

महाभाष्य का हिन्दी अनुवाद

बड़े सौभाग्य और हर्ष का विषय है कि भगवान् पतञ्जलिविरचित महाभाष्य का हिन्दी अनुवाद चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी की प्रधान शाखा 'चौखम्बा विद्याभवन' से प्रकाशित हो रहा है। यह अनुवाद श्री पं० मधुसूदनप्रसाद जी मिश्र ने किया है।

महाभाष्य जैसे गम्भीर और प्रौढ ग्रन्थ का किसी भी भाषा में अनुवाद करना अत्यन्त क्लिष्ट कार्य है। यही कारण है कि अंग्रेजी जैसी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा में भी इसका अनुवाद अभी तक नहीं हुआ। संसार की समस्त भाषाओं में एक मात्र मराठी भाषा ही ऐसी सौभाग्य-शालिनी है जिसमें सम्पूर्ण महाभाष्य का अनुवाद आज से बहुत वर्ष पूर्व हो चुका है। मराठी भाषा में महाभाष्य के अनुवाद करने का श्रेय पूना के श्री म० म० वासुदेवजी अभ्यङ्कर को है। यह अनुवाद भूमिकात्मक भाग सहित सात जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

हिन्दी भाषा में इससे पूर्व २–३ आह्निकों के अनुवाद छप चुके हैं। नवाह्निक का एक अनुवाद श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री कृत छप रहा है। परन्तु प्रकृत प्रयत्न में दो वैशिष्ट्य हैं—एक तो यह अनुवाद पूरे महाभाष्य का किया जा रहा है और दूसरा इसमें संस्कृतज्ञों के लिए कैयट विरचित महाभाष्य प्रदीप भी छापा जा रहा है। इस प्रकार यह ग्रन्थ संस्कृत के विद्वानों, छात्रों और हिन्दी भाषाविज्ञों सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है।

वस्तुतः महाभाष्य जैसे भावगम्भीर शास्त्रों के शाब्दिक अनुवाद मात्र से पूरा लाभ नहीं होता, क्योंकि इनकी भाषा इतनी सरल है कि उच्चकोटि की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी जानने वाला भी इनके शब्दार्थ को सुगमता से समझ सकता है। परन्तु जहाँ तक इनके गम्भीर भावों तक पहुँचने की बात है संस्कृतज्ञ भी असमर्थ होते हैं, पुनः अनुवादमात्र से उन तक पहुँचना सर्वथा असम्भव है। हाँ, यदि अनुवाद के साथ-साथ क्लिष्ट भागों की विशद व्याख्या भी हो, तब कुछ समझा जा सकता है। यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ अनुवाद रूप ही है तथापि कई विषयों को नीचे टिप्पणी में विशद करने के प्रयत्न द्वारा व्याख्या की कमी कुछ सीमा तक पूर्ण हो जाती है।

हमने सम्पूर्ण महाभाष्यान्त पाणिनीय व्याकरण अनेक छात्रों को पढ़ाया है और पाणिनीयेतर प्रायः सभी व्याकरणों का तुलनात्मक अनुशीलन किया है। उससे हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि महाभाष्य का सर्वांगपूर्ण अनुवाद वा व्याख्या एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही क्यों न विद्वान् हो, करने में असमर्थ है। क्योंकि इस आकर ग्रन्थ में सभी विद्याओं से सम्बन्ध रखने वाले प्रकरण मिलते हैं, बड़े से बड़ा विद्वान् भी सभी सम्बद्ध विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। पुनः एकमात्र व्याकरणज्ञ की तो इसमें गति ही क्या हो सकती है। हमें इस बात का स्वयं अनुभव है कि अपने समय के सर्वशिरोमणि वैयाकरण गुरुदेव भी पस्पशाह्निक के 'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः' पङ्क्ति को यथार्थ रूप में न समझा सके। यह वचन हमें तभी पूर्णतया समझ में आया जब हमने श्रौत और मीमांसा के ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

नैकं शास्त्रमधीयानो गच्छति शास्त्रनिर्णयम्। (चरक)

पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

(निरुक्त)

फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महाभाष्य जैसे प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने और छपवाने का जो उपक्रम श्री पं० मधुसूदन प्रसादजी मिश्र और चौखम्बा विद्याभवन के अध्यक्ष महोदय ने किया है, उसके लिए दोनों ही अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। परमात्मा करे कि इनका यह महद् उद्योग पूर्ण और सफल हो।

वैशाखी पूर्णिमा
वि० सं० २०२४ }

युधिष्ठिर मीमांसक

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्पतञ्जलिमुनिविरचितं

व्याकरणमहाभाष्यम्

सप्रदीप-'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमाध्याये प्रथमपादे

प्रथमं पस्पशाह्निकम्

(व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते, शब्दा अनेनेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्, तच्च सूत्रम्[1] । भाष्यते शब्दशास्त्रं येन इति भाष्यम् । महच्च तद् भाष्यम्—महाभाष्यम् । व्याकरणस्य महाभाष्यम्—व्याकरणमहाभाष्यम् ।)

जिससे साधु शब्द का ज्ञान हो उसी का नाम व्याकरण है और उस व्याकरण के सूत्रार्थों का विवेचन करते समय अपने मतों का भी ननु-न च से विवेचन करना 'भाष्य' कहलाता है ।

महाभाष्य में ८४ आह्निक हैं, उनमें प्रथम अध्याय के नवाह्निकों में यह प्रथम आह्निक प्रस्तावना के रूप में है, अतः वैयाकरण लोग इसे पस्पशाह्निक कहते हैं ।

'स्पश् बाधनस्पर्शनयोः' (भ्वादिः), तत्र स्पर्शनं ग्रन्थनम् । तस्माद् यङ्लुकि कर्तरि पचाद्यच् 'पस्पश' इति ।

कोशकारों ने भी 'पस्पश' का अर्थ—प्रस्तावना, आमुख, भूमिका आदि किया है । देखें—मोनियर विलियम्स की 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' पृ० ६१२ ।

अह्ना निर्वृत्तम्—आह्निकम् । एक दिन में जितना विषय पढ़ाया जा सकता है, उस विषय-विभाग का नाम 'आह्निक' है । (संभव है महर्षि पतञ्जलि के समय में ऐसे प्रतिभासम्पन्न शिष्य रहे हों) ।

---

१. सूत्रम्—'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
सूत्रभेदाः—संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

(१) संज्ञासूत्रं यथा—वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः । इत्यादि । (२) परिभाषासूत्रम् (अव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकं सूत्रम् ।) यथा—आदेः परस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । इत्यादि । (३) विधिसूत्रं यथा—इको यणचि, एचोऽयवायावः । इत्यादि । (४) नियम-

(शास्त्रारम्भप्रतिज्ञाभाष्यम्[1])

अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥

(प्रदीपः) सर्वाकारं निराकारं विश्वाध्यक्षमतीन्द्रियम्। सदसद्रूपतातीतमदृश्यं माययावृतैः॥१॥
ज्ञानलोचनसंलक्ष्यं नारायणमजं विभुम्। प्रणम्य परमात्मानं सर्वविद्याविधायिनम् ॥२॥
पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात्। सरस्वतीं च तां नत्वा सर्वविद्याधिदेवताम् ॥३॥
पदवाक्यप्रमाणानां पारं यातस्य धीमतः। गुरोर्महेश्वरस्यापि कृत्वा चरणवन्दनम् ॥४॥
महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम्। यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः॥५॥
भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः।
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम् ॥ ६ ॥
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना। क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत् ॥७॥

भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात्प्रयोजनमाह—**अथ शब्दानुशासनमिति**। प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षोहादीनि पश्चाद्वक्ष्यति ॥ स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे—**अथेत्ययमिति**। इतिशब्दोऽथशब्दस्य स्वरूपेऽवस्थापनाय प्रयुक्तः। एवं हि पदान्तरैः सामानाधिकरण्येन सम्बन्धे सत्यथशब्दो व्याख्यातुं शक्यते। स्वरूपेऽवस्थितश्च सर्वनाम्ना परामृश्यते—**अयमिति**। **शब्द इति** स्वरूपकथनं विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् ॥ **अधिकारार्थ इति**। अधिकारः प्रस्तावो द्योत्यत्वेनास्य प्रयोजनमित्यर्थः। निपातानां च द्योतकत्वं वाक्यपदीये निर्णीतम् ॥ अथशब्दस्याधिकारार्थत्वे यो वाक्यार्थः संपद्यते तं दर्शयति—**शब्दानुशासनमिति**। अनेकक्रियाविषयस्यापि शब्दानुशासनस्य प्रारभ्यमाणताऽथशब्दसन्निधानेन प्रतीयते। व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम—शब्दानुशासनमिति। अत्र चाचार्यस्य कर्तुः प्रयोजनाभावादनुपादानादुभयप्राप्त्यभावान्नो**भयप्राप्तौ कर्मणी**त्यनेन षष्ठी, अपि तु **कर्तृकर्मणोः कृती**त्यनेनेति **कर्मणि चेति** समासप्रतिषेधाप्रसङ्गादिध्मप्रव्रश्चनादिवत्समासः ॥

अब साधु शब्द शिक्षण नामक (व्याकरण) शास्त्र का प्रारम्भ होता है। यहाँ 'अथ' शब्द अधिकार (प्रारम्भ) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शब्दानुशासन नामक (व्याकरण) शास्त्र प्रारम्भ होता है, ऐसा समझना चाहिए।

विमर्श—(शब्दस्य अनुशासनं शब्दानुशासनम्। अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासनं नाम शास्त्रम्।

ननु 'मङ्गलाऽनन्तराऽऽरम्भ-प्रश्न-कार्त्स्न्येष्वथो अथ' इति कोशात् 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यत्र 'अथे'ति निपातस्य मङ्गलार्थताया अपि सम्भवात् केवलमधिकारार्थ इति कथनमनुचितमिति चेत्, सत्यम्। अन्यार्थमेव नीयमानानां पूर्णकलशादीनामिव अधिकारार्थमेव प्रयुज्यमानस्य अथशब्दस्य मङ्गलार्थ-

---

सूत्रं यथा--कृत्तद्धितसमासाश्च, रात्सस्य। इत्यादि। (५) अतिदेशसूत्रं यथा—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तुज्वत्क्रोष्टुः। इत्यादि। (६) अधिकारसूत्रं यथा—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, आ तुके। इत्यादि।

१. 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

त्वस्यापि सत्त्वात्। तदुक्तं भगवच्छङ्कराचार्यपादैः—'अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथ शब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवती'ति। तथा चात्र—'साधुशब्दज्ञापनाय शब्दानुशासनसंज्ञकं व्याकरणशास्त्रं व्याख्येयतया प्रारब्धं बोध्यं जिज्ञासुभिरिति निर्गलितार्थो बोध्यः।)

वैयाकरण लोग पतञ्जलिप्रयुक्त 'अथ शब्दानुशासनम्' को अष्टाध्यायी (पा० व्याकरण) की संज्ञा मानते हैं। क्योंकि भाष्यकार ने स्वयं इसकी व्याख्या करते समय 'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम्' ऐसा कहकर 'नाम' पद से इस बात को स्पष्ट कर दिया है। किं च 'वृद्धिरादैच्' सूत्र की व्याख्या करते समय भाष्यकार ने सूत्रघटक 'वृद्धि' पद को मंगलार्थक कहा है—कथं 'वृद्धि-रादैच्' इति? तत्र समाधानभाष्यम्—'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्ये-तारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः।' इससे तो पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि 'वृद्धिरादैच्' ही अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र है।

अष्टाध्यायी के प्रसिद्ध टीकाकार पं० वामन और जयादित्य ने अपनी 'काशिका' में 'अथ शब्दानुशासनम्' को अष्टाध्यायी का प्रथमसूत्र मानकर इसकी टीका लिखी है। इसका निदान प्रायः यह है कि पतञ्जलि के 'पात-ञ्जलयोगसूत्र' के 'अथ योगानुशासनम्' को प्रथमसूत्र देखकर उसी पतञ्जलि के महाभाष्य में यहाँ 'अथ शब्दानुशासनम्' को सूत्ररूप में देख अष्टाध्यायी का प्रथमसूत्र माना गया होगा।

(अनुशासनीयशब्दनिर्णयाधिकरणम्।)

(आक्षेपभाष्यम्)

केषां शब्दानाम्?॥

(प्रदीपः) शब्दशब्दस्य सामान्यशब्दत्वाद्विना प्रकरणादिना विशेषेऽवस्थानाभावात्त-न्त्रीशब्दकाकवाशितादीनामप्यनुशासनप्रसङ्ग इति मत्वा पृच्छति—**केषामिति**। उत्तरपदार्था-न्तर्गतस्यापि पूर्वपदार्थस्य बुद्ध्या प्रविभागात्किमा प्रत्यवमर्शः। यथा राजपुरुष इत्युक्ते 'कस्य राज्ञः?' इति।

अब 'शब्दानुशासन' के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा होने पर अनुशासन के कर्म-भूत शब्दों के बारे में यह प्रश्न होता है कि—किन[1] शब्दों की निरुक्ति कराने-वाला शास्त्र?

(समाधानभाष्यम्)

लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो

---

१. प्रश्न का आशय यह नहीं है कि शब्दानुशासन शब्द से शब्दत्व सामान्य अर्थात् वीणा अथवा कौवे के काँव-काँव आदि शब्द हैं उन सभी का अनुशासन प्राप्त होने लगता (जैसा कि कैयट ने बतलाया है) बल्कि यह है कि क्या शाकटायनीय तन्त्र की तरह केवल वैदिक शब्दों की? (कैयटवाला आशय शब्दानुशासन की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है।)

हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मणं इति ॥ वैदिकाः खल्वपि—शं नो देवीरभिष्टये। (अ० वे० १.१.१)। इषे त्वोर्जे त्वा (य० वे० १.१.१)। अग्निमीळे पुरोहितम्। (ऋ० वे० १।१।१) अग्न आयाहि वीतय इति ॥ (सा० वे० १.१.१.) ॥

(प्रदीपः) सिद्धान्तवादी तु व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वात्सामर्थ्याद्विशेषावगतिरिति मत्वाह—**लौकिकानामिति**। लोके विदिता इति—**लोकसर्वलोकाट्ठञिति** ठञ्। अथ वा भवार्थेऽध्यात्मादित्वाट्ठञ्। एवं वेदे भवा वैदिकाः। वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानम्। यथा—**ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात** इति वसिष्ठस्य। तेषां तु प्राधान्यं यत्नेनापभ्रंशपरिहारात्। अथ वा भाषाशब्दानामेव लौकिकत्वमिति भेदेन निर्देशः॥ तत्र लोके पदानुपूर्वीनियमाभावात्पदान्येव दर्शयति—**गौरश्व इति**। वेदे त्वानुपूर्वीनियमाद्वाक्यान्युदाहरति—**शं न इति** ॥

समाधानकर्त्ता उत्तर देता है कि लौकिक और वैदिक दोनों शब्दों की निरुक्ति करानेवाला शास्त्र। उनमें पहले लौकिक शब्द दिये जाते हैं, जैसे—गौः,[1] अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः आदि।

वैदिक[2] शब्द जैसे—शं नो देवीरभिष्टये (अथर्व० १.१.१.)। इषे त्वोर्जे त्वा (यजु० १.१.१.)। अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋग्वेद० १.१.१.)। अग्न आयाहि वीतये। साम० १.१.१.) इत्यादि।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) अयं गौरयं शुक्ल इति शब्दार्थयोरभेदेन लोके व्यवहारदर्शनाच्छब्दस्वरूपनिर्धारणाय पृच्छति—**अथेति**। गौरिति विज्ञाने प्रतिभासमानेषु वस्तुषु कः शब्द इत्यर्थः ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि गौः (गाय) यह जो ज्ञान है, उसमें शब्द किसे समझा जाय[3]।

---

१. गो शब्द लोक और वेद दोनों में साधारणरूप से विदित है, आह्निक ग्रन्थों में प्रातः दर्शनीय अत एव मङ्गलभूत गोरूप अर्थ का वाचक है। इसलिए समस्त लौकिक शब्दों में पहले इसी का भाष्यकार ने उल्लेख किया है।

२. यद्यपि वैदिक शब्द लौकिक भी हैं अतः शब्दों के उदाहरण में भेद बतलाने की आवश्यकता नहीं थी फिर भी 'ब्राह्मण वसिष्ठ' न्याय से वैदिक शब्दों की प्रधानता बतलाने के लिए भाष्यकार ने लौकिक से अलग वैदिक शब्दों का उल्लेख किया है। भगवान् पतञ्जलि के समय में वैदिक शब्दों से लौकिक शब्दों में अत्यधिक दूरत्व आ चुका था, दोनों शब्दों का अलग-अलग नामकरण हो चुका था, इसलिए उन्होंने दोनों का उल्लेख उचित ही किया है। वेदों में स्वर का आदर विशेष है। स्वरों से तो मुख्यतया अर्थ-निर्णय किया जाता है। स्वरों का यथार्थ रूप से ज्ञान अलग-अलग पदों द्वारा सम्भव नहीं, इसलिए वैदिक शब्दों के उदाहरण वैदिक वाक्यों के रूप में ही दिये गये हैं।

३. प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि 'अयं गौः' (यह गौ है) इस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय—व्यक्ति, गुण, क्रिया और स्वयं गौः ये चारों होते हैं। इन चारों में शब्द कहने से किसे समझा जाय ?

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

किं यत्तत् सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) तान्येव वस्तूनि क्रमेण निर्दिशति—**किं यत्तदिति**। उद्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गमुपाददत इति कामचारतः **स शब्द** इति पुंल्लिङ्गेन निर्देशः ॥

प्रश्न का उपपादन करनेवाला उक्त ज्ञान में विषयरूप से आनेवाले व्यक्ति आदि का क्रमशः निर्देश करता हुआ पुनः प्रश्न ही करता है कि वह जो गलकम्बल, पूँछ, ककुद[1] (डील), खुर और सींगवाला पदार्थ अर्थात् पशु व्यक्ति हैं वही शब्द है क्या ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् ॥

(प्रदीपः) नेत्याहेति। भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वान्न द्रव्यं शब्द इति प्रतीतम्, अपि तु द्रव्यमिति । यदि च द्रव्यानुशासनं विवक्षितमभविष्यद् 'अथ द्रव्यानुशासन'मित्येवावक्ष्यत् ॥

इस पर तटस्थ पूर्व भाष्य के खण्डन करनेवाले सिद्धान्ती के उत्तर का अनुवाद करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि शब्द नहीं, वह तो द्रव्य है[2] ।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति, स शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) अनेनैव न्यायेन गुणक्रियासामान्यानां निराकृतेऽपि शब्दत्वे प्रपञ्चार्थं तच्चोद्यपूर्वकं निराकरोति **यत्तर्हीति**। गोशब्दार्थे चेषां संभवाच्छब्दत्वमाशङ्कते । परिहारस्तु पूर्ववत् ॥ तत्रे**ङ्गितम**भिप्रायस्य सूचकः शरीरव्यापारः । **चेष्टितं** कायपरिस्पन्दः । **निमिषित**मक्षिव्यापारः ॥

इस पर प्रश्न का उपपादन करनेवाला पूछता है[3] कि यदि गलकम्बलादिमान् पदार्थ द्रव्य है, शब्द नहीं, तो उस शक्ति का अपने शरीर-व्यापार द्वारा अभिप्रायों का संकेत करना, चलना-फिरना, आँखों का मूंदना और खोलना आदि ही शब्द है क्या ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । क्रिया नाम सा ॥

---

१. गो (बैल) की गर्दन जहाँ से प्रारम्भ होती है पीठ पर के उसी ऊँचे स्थान को ककुद या हिन्दी में डील या तिल कहते हैं ।

२. शब्द का ज्ञान केवल श्रोत्र इन्द्रिय से ही किया जाता है । यहाँ गौः इस ज्ञान से उपस्थित गलकम्बल, पूँछ, ककुद आदि वाले जिस पदार्थ को हम जानते हैं उसका ज्ञान श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं, बल्कि चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है, अतः हम 'शब्द' से गोरूप व्यक्ति को नहीं ले सकते, क्योंकि गलकम्बलादिमान् पदार्थ द्रव्य अथवा व्यक्ति ही हो सकता है—शब्द नहीं ।

३. श्रोत्र से भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण जब गलकम्बलादिमान् द्रव्य में शब्दत्व का निराकारण सिद्ध हो गया तो उसी न्याय से गुण और क्रिया में भी निराकरण सिद्ध हो जाता, गिर गुण क्रिया के शब्दत्व की आशङ्का और उसका उत्तर देना ग्रन्थ-विस्तार की सूचना दे रहा है ।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यर्त्तीह तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) शुक्लो नील इति। द्रव्यस्य प्रागुपन्यासाद् गुणमात्राभिधायिनोऽत्र शुक्लादयो द्रष्टव्याः ॥

इस पर सिद्धान्ती के उत्तर का पुनः अनुवाद करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि वह भी शब्द नहीं, वह तो क्रिया है।

इस पर प्रश्न का उपपादन करनेवाला फिर पूछता है कि यदि उस गो व्यक्ति के अभिप्राय–संकेतादि–क्रिया हैं, शब्द नहीं हैं तब उस (गोव्यक्ति) का जो शुक्लत्व (सफेदी), नीलत्व (नीलापन), कृष्णत्व (कालापन), कपिलत्व (कइलपन) और कपोतत्व (चितकबरापन) है, वह शब्द है क्या ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह। गुणो नाम सः ॥

तटस्थ सिद्धान्ती के उत्तर का अनुवाद करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि वह भी शब्द[1] नहीं, वह तो गुण है।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यर्त्तीह तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं, स शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) भिन्नेष्वभिन्नमिति। अनेन सामान्यस्यैकत्वं कथ्यते ॥ **छिन्नेष्वच्छिन्नमिति** अनेन तु नित्यत्वम् ॥ **सामान्यभूतमिति।** सत्ताख्यं महासामान्यं गोत्वादेः सामान्यविशेषस्योपमानं निर्दिष्टम्। सामान्यमिव सामान्यभूतम्। भूतशब्द उपमार्थे, यथा—पितृभूत इति ॥

प्रश्न का उपपादन करनेवाला इस पर पुनः पूछता है कि यदि उस गोव्यक्ति के शुक्लत्व, नीलत्व आदि गुण हैं, शब्द नहीं हैं तब उस गोव्यक्ति का सभी गौवों में सदा रहनेवाला एकमात्र गोत्व है, जो कि अलग-अलग व्यक्तियों में सामान्य रूप से देखा जाता है, व्यक्तियों के छिन्न-भिन्न होने पर भी जो स्वयं अच्छिन्न रहता है, वह सामान्य ही शब्द है क्या ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह। आकृतिर्नाम सा ॥

तटस्थ सिद्धान्ती के उत्तर का अनुवाद करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि वह भी शब्द नहीं, वह तो आकृति[2] है ?

---

१. सिद्धान्ती का कहना है कि गो व्यक्ति के शुक्लत्व, नीलत्व आदि शब्द नहीं है। क्योंकि वह जो शुक्लत्वादि है, वह श्रोत्र से भिन्न चक्षु इन्द्रिय से वेद्य है। इसलिए वह शब्द रूप से प्रसिद्ध न होकर गुण रूप से ही प्रसिद्ध है।

२. श्रोत्र से भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियों से वेद्य होने के कारण उस व्यक्ति का जो 'गोत्व' है वह शब्द है; ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। किन्तु आकृति (जाति, अवयवसंस्थान) है ऐसी प्रसिद्धि है। गोत्व के चक्षुर्वेद्य होने का कारण यह है कि न्याय शास्त्र में ऐसी प्रसिद्धि है कि जिस व्यक्ति का ज्ञान जिस इन्द्रिय से किया जाता है उसी इन्द्रिय से उस व्यक्तिनिष्ठ जाति और उस व्यक्ति के अभाव का भी ज्ञान किया जाता है। अतः जब गो व्यक्ति का

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

कस्तर्हि शब्दः ? ॥

(प्रदीपः) द्रव्यादिषु निरस्तेषु पृच्छति—**कस्तर्हीति** ।

(समाधानभाष्यम्)

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ॥

(प्रदीपः) उत्तरमाह—**येनोच्चारितेनेति** । वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति । वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात् अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावादेकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात्तद् व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः—**उच्चारितेन** । प्रकाशितेनेत्यर्थः ॥

आक्षेप का उपसंहार करनेवाला पूछता है—तो शब्द किसे कहा जाय ?

समाधानकर्ता उत्तर देता है कि जिसके उच्चारित (अभिव्यञ्जक वर्णों से प्रकाशित) किये जाने पर गलकम्बल, पूँछ, ककुद (डील या तिल), खुर और सींगवाले पशुव्यक्ति का ज्ञान होता है, वह तो शब्द है ।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा–प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः ॥

(प्रदीपः) अथवेति । अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वादिहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः, द्रव्यादयो न शब्दशब्दवाच्या इत्यत्र तात्पर्यात् । **ध्वनिं कुर्वन्निति** । विधिनिषेधयोरप्रवृत्तविषयत्वात्कथमस्य त्रिभिः सम्बन्धः । उच्यते—शब्दं कुर्वन्नपि शब्दं कुर्वित्युच्यते विरामाशङ्कायां तन्निवृत्तये । तथानभिमतशब्दश्रवणोद्वेजितेनोच्यते—मा शब्दं कार्षीरिति ॥

समाधाता दूसरा[1] समाधान यह उपस्थित करता है कि अथवा लोक में व्यवहार करनेवालों में पदार्थ के बोधक रूप से प्रसिद्ध (श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण) वर्णरूप[2] जो ध्वनिसमुदाय है, वही शब्द है । उदाहरणार्थ जो

ज्ञान चक्षु से किया जाता है, तब उस व्यक्तिनिष्ठ गोत्व का भी ज्ञान उसी इन्द्रिय से सम्भव होगा ।

१. स्फोट का ज्ञान मन से होता है । उस स्फोट को अर्थ प्रत्यायक होने के कारण शब्द मान लिया जाय, तो 'श्रोत्र से ग्राह्य गुण शब्द है' यह लक्षण नहीं उपपन्न होगा और 'अर्थों के अप्रत्यायक होने के कारण वर्ण शब्द नहीं हैं, यदि ऐसा मान लें तब वर्णों को शब्द कहने का जो व्यवहार है वह नहीं बनेगा । इस आशय से दूसरा समाधान उपस्थित करते हैं ।

२. कादि खादि वर्णरूप ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति कराती है । स्वयं इसका कोई अर्थ नहीं होता । वैयाकरणों के मत में वास्तविक शब्द स्फोट ही माना गया है ।

वर्णरूप ध्वनि का उच्चारण करनेवाला होता है, उससे यह कहा जाता है कि 'जिस ध्वनिरूप शब्द का उच्चारण तुम कर रहे हो उसे करते ही रहो' 'शब्द मत करो' 'यह माणवक बारम्बार शब्द का उच्चारण किया करता है।' इस लिए ध्वनि अर्थात् वर्णोच्चारण ही शब्द है।

(शब्दानुशासनशास्त्रप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? ॥

(प्रदीपः) कानि पुनरिति। किं संध्योपासनादिवद्व्याकरणाध्ययनं नित्यं कर्मार्थं काम्यमिति प्रश्नः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि शब्दशास्त्र के पढ़ने का प्रयोजक[1] (हेतु अथवा लाभ) क्या है ?

(समाधानभाष्यम्)

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ॥

समाधानकर्ता उक्त प्रश्न का उत्तर देता है कि वेदों की रक्षा, विभक्तियों के विपरिणाम, आगम, सुगमता और संशयराहित्य, ये ही व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के प्रयोजन (हेतु अथवा लाभ) हैं।

(रक्षापदार्थनिरूपणभाष्यम्)

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ॥

(प्रदीपः) पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनतामस्याह—**रक्षेति**। लोके लोपाद्यदृष्टं वेदे दृष्ट्वा भ्राम्येदवैयाकरणः, वैयाकरणस्तु न भ्राम्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति तत्र **लोपागम**योरुदाहरणं **देवा अदुह्रेति**। दुहेर्लङो झस्यादादेशे कृते **लोपस्त आत्मनेपदेष्विति** तलोपः, **बहुलं छन्दसीति** रुटि सति रूपमेतत्। **वर्णविकारो** यथा—**उद्ग्राभं च निग्राभं** चेति। **हृग्रहो-र्भश्छन्दसि हस्तेतिवक्तव्यमिति** हस्य भकारः। **उदि ग्रह** इत्यत्रोद्ग्राभनिग्राभौ **च च्छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयोरिति** वचनादुन्निपूर्वाद्ग्रहेर्घञ् ॥

रक्षापदार्थ का निरूपण करनेवाला कहता है कि वेदों की रक्षा के लिए व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि जिस व्यक्ति को लोप[2], आगम और वर्णों के विकारों[3] का ज्ञान है, वह वेदों की रक्षा भलीभाँति करेगा।

१. प्रयोजन शब्द करण में प्रत्यय मानने से प्रयोजक अथवा हेतु अर्थ का बोध कराता है, अन्यथा लाभ या फल अर्थ का। पहले सामान्य रूप से शब्दज्ञान प्रयोजन कहा जा चुका था किन्तु यहाँ शेष प्रयोजन पूछने का तात्पर्य है।

२. लोप और आगम के उदाहरण स्वरूप कैयट ने 'अदुह्र' इस वैदिक प्रयोग का उल्लेख किया है। यहाँ दुह धातु से लङ्लकार के प्र० पु० के झ को अत होने पर 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इस सूत्र से त का लोप होता है। 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से रुट् का आगम करने पर उक्त रूप की सिद्धि होती है।

३. लोप वर्णविकृति नहीं; वर्ण का अदर्शनस्वरूप है। अतः वर्णविकार का अलग उल्लेख किया गया है। वर्णविकार द्वारा (ह् की विकृति भ् के द्वारा) वेद में जहार के बदले जभार

(ऊहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

ऊहः खल्वपि—न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण[1] यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम् ॥

(प्रदीपः) ऊहः खल्वपीति। इह यस्मिन् यागे इतिकर्तव्यतोपदिष्टा यागान्तरेणोपजीव्यते सा **प्रकृतिः**। येनोपजीव्यते सा **विकृतिः**। **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति** मीमांसकैर्व्यवस्थापिते न्याये प्रकृतिप्रत्ययादीनामूहं वैयाकरणः सम्यग्विजानाति। तत्राग्नेर्मन्त्रोस्ति—**अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामीति। 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः'** इति सौर्ये चरौ मन्त्र ऊह्यते—**सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामीति।** विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः॥

ऊह पदार्थ का निरूपण करनेवाला कहता है कि निश्चय ही ऊह अर्थात् विभक्तियों का विपरिणाम भी शब्दशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। वेद में जो मन्त्र पढ़े गये हैं, उनमें प्रयुक्त शब्दों में सब लिङ्गों और विभक्तियों का उपयोग नहीं किया गया है। यज्ञभूमि में गये हुए पुरुष को उन मन्त्रों में यथोचित लिङ्गों अथवा विभक्तियों का विपरिणाम करना आवश्यक हो जाता है। जो वैयाकरण नहीं है, वह उन मन्त्रों में यथोचित रीति से लिङ्गों और विभक्तियों के विपरिणाम करने में समर्थ नहीं रहता। अतः यथोचित रीति से लिङ्ग और विभक्तियों का विपरिणाम[2] किया जा सके, एतदर्थ अवश्य व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

(आगमपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

आगमः खल्वपि—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो

और उद्ग्राहं के बदले उद्ग्राभं ये रूप पाये जाते हैं। जिसे व्याकरण के इस वर्णविकार का पता नहीं, सम्भव है कि वह जभार और उद्ग्राभं को अशुद्ध मानकर जहार और उद्ग्राहं को पाठान्तरस्वरूप कल्पित कर ले। किन्तु जिसे 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इस सूत्र का ज्ञान है, वह उन भकारवाले प्रयोगों को शुद्ध ही मानेगा, जिससे वेदों की रक्षा हो जायेगी।

१. कीलहॉर्न वाले संस्करण के 'पुरुषेण' यह पाठ नहीं है।

२. मीमांसा में यह न्याय माना गया है कि प्रकृति (वह याग जिसके विधान का सम्पूर्ण प्रकार उपदिष्ट है और जिसके पूरे विधान प्रकार को मानकर दूसरे याग किये जाँय) के तुल्य विकृति (वह याग जिसके विधान का सम्पूर्ण प्रकार उपदिष्ट नहीं है किन्तु जो प्रकृति याग के विधान प्रकार पर ही उपजीवित है) कर्तव्य है। प्रकृति कहे जानेवाले यागों में आग्नेय याग आदि आते हैं और विकृति यागों में सौर्य आदि। आग्नेय याग में अग्नि देवता के लिए निर्वाप (द्रव्य का त्याग) करते समय यह मन्त्र पठित है कि 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' किन्तु सौर्य याग में मन्त्र नहीं पढ़ा गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः।' अर्थात् जिसे ब्रह्मवर्चस् की कामना हो वह सूर्य देवता के लिए चरु का निर्वाप करे। इस विकृति याग में वैयाकरण मन्त्र का ऊह करते समय 'अग्नये' के स्थान पर 'सूर्याय' का विपरिणाम कर लेता है। भाष्य में लिङ्ग का विपरिणाम प्रकृति विपरिणाम का भी उपलक्षण माना गया है।

ज्ञेयश्च" इति ॥ प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ॥

(प्रदीपः) आगम इति। आगमः प्रयोजनः प्रवर्तको नित्यकर्मतां व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति। प्रयोजनशब्देन च फलं प्रयोजकश्चोच्यते। **निष्कारण इति**। दृष्टं कारणमनपेक्ष्येत्यर्थः। **प्रधानं चेति**। पदपदार्थावगमस्य व्याकरणनिमित्तत्वात्तन्मूलत्वाद्वाक्यवाक्यार्थावसायस्येति भावः ॥

क्रमशः यहाँ आगम पदार्थ को बतलानेवाला कहता है कि निश्चय ही आगम (वेद) भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन (हेतु, प्रवर्तक) है। "ब्राह्मण को बिना किसी दृष्ट कारण (फल) की अपेक्षा किये छः[1] अङ्गों से युक्त वेद का धर्म मान कर अध्ययन और अर्थज्ञान प्राप्त करना चाहिए।" ऐसी श्रुति है। वेद के उन छः अङ्गों में मुख्य अङ्ग व्याकरण ही है और मुख्य के विषय में किया गया प्रयत्न ही फलदायक होता है। (प्रकृत में व्याकरण के मुख्य वेदाङ्ग होने से उसके अध्ययन से वाक्यार्थज्ञानरूप फल की प्राप्रि सिद्ध होती है।)

(लघुपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् "ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः" इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दा शक्या ज्ञातुम् ॥

(प्रदीपः) लघ्वर्थमिति। लाघवेन शब्दज्ञानमस्य प्रयोजनम् ॥ **ब्राह्मणेनेति**। अध्यापनं ब्राह्मणस्य वृत्तिः। न चाशब्दज्ञ तमुपश्लिष्यन्ति शिष्या इति ॥

लघु पदार्थ का निरूपण करनेवाला कहता है कि शब्दों के ज्ञान में सुगमता[2] के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। कहा जाता है कि 'ब्राह्मण को (अपनी अध्यापन-वृत्ति चलाने के लिए) शब्दों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।[3] व्याकरण पढ़े बिना दूसरी किसी सुगम रीति से शब्दज्ञान शक्य नहीं है।

(असंदेहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति—यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः', अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ॥

(प्रदीपः) असन्देहार्थमिति। संदेहस्य प्रागभावोऽत्र द्रष्टव्यो न तु प्रध्वंसाभावः।

---

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष ये ही वेद के छह अङ्ग हैं।

२. जितने भी साधु शब्द हैं उनके ज्ञान का उपाय व्याकरण की प्रकिया (प्रकृतिप्रत्ययकल्पन) है। यही सुगम उपाय है। आगे चलकर भाष्यकार ऐसा बतलायेंगे कि शब्दों का पारायण अथवा प्रतिपद का पाठ करने में बहुत गौरव है।

३. जिस आचार्य को शब्दों का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है उसे शिष्य त्याग देते हैं, जिससे उसकी वृत्ति उच्छिन्न हो जाती है।

न हि वैयाकरणस्य संशय उत्पद्य विनश्यति, इतरस्यैव तदुत्पादात् ॥ **स्वरत इति ।** पूर्वपद-प्रकृतिस्वराद्बहुव्रीह्यर्थावसाय इत्यर्थः ।

असंदेह पदार्थ का निरूपण करनेवाला कहता है कि और संदेहरहितता के लिए (सन्देह उत्पन्न[1] न होने पावे इसलिए) व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है ।

क्योंकि यज्ञकाण्ड में आनेवाला यह वाक्य है कि 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-मनड्वाहीमालभेत[2] ।' अर्थात् स्थूलपृषती (पृषती = बिन्दु) गौ का अग्नि और वरुण देवता के उद्देश्य से आलम्भन किया जाय । उक्त श्रुति में जो स्थूल-पृषती शब्द है उसके अर्थ से संदेह उठता है कि क्या उक्त शब्द का अर्थ मोटी और बिन्दुओं वाली गौ, यह माना जाय अथवा जिस गौ के शरीर पर मोटे बिन्दु अर्थात् छींटे हैं वह ? जो पुरुष व्याकरण को जानने वाला नहीं है वह स्वर से 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकेगा । वैयाकरण स्वर देखकर भी अर्थ का निर्णय करता है । यदि 'स्थूलपृषती' में पूर्वपद स्थूल का प्रकृति स्वर है तब तो बहुव्रीहि समास है और यदि समास का उदात्त है तब तत्पुरुष है ।

(व्याकरणाध्ययनसाधकागमप्रतीकभाष्यम्)

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण[3] इति ॥

(**प्रदीपः**) मुख्यानि प्रयोजनानि प्रदर्श्यानुषङ्गिकाणि प्रदर्शयति—**इमानि चेति ॥ भूय इति ।** पुनरित्यर्थः ॥ आनुषङ्गिकत्वाच्चैषां वर्गद्वयोपादानम् ॥

व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के और भी (आगे कहे जानेवाले) प्रयोजन[4] (लाभ अथवा हेतु) हैं जिनके प्रतीक हैं—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् ।

१. असन्देह का अर्थ 'सन्देह का ध्वंस' नहीं है । क्योंकि वैयाकरण को सन्देह होता ही नहीं है तो ध्वंस होगा किसका ?

२. स्थूलपृषती में दो प्रकार से समास किया जा सकता है । 'स्थूला चासौ पृषती' इस विग्रह में 'स्थूलपृषती' यह जो समास होगा वह कर्मधारय समास होगा, जिससे ऊपर का पहला अर्थ होगा और 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः' इस विग्रह में 'स्थूलपृषती' यह जो समास होगा वह बहुव्रीहि समास होगा जिससे ऊपर का दूसरा अर्थ होगा । कर्मधारय में 'समासस्य' इस सूत्र से समास का अन्त उदात्त होता है और बहुव्रीहि समास में स्थूल यह जो पूर्वपद है उसके अन्त्य वर्ण के उदात्त होने से उसके बादवाला स्वर स्वरित हो जाता है । स्वरित बाद में आनेवाले दोनों स्वर अनुदात्त हैं जिनका प्रचय हो जाता है । अतः इस स्थूलपृषती के स्वर को देखकर इसमें कौन समास होकर कौन-सा अर्थ सम्भव है यह वैयाकरण ही निर्णय कर सकता है—अवैयाकरण नहीं ।

३. कीलहॉर्न वाले संस्करण में 'वरुणेति' यह पाठ है ।

४. और भी प्रयोजन कहने का आशय यह है कि पहले जो प्रयोजन कहे गये हैं वे मुख्य प्रयोजन हैं किन्तु यहाँ अब जो कहे जायँगे वे गौण प्रयोजन होंगे ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण।

(भाष्यम्)

तेऽसुराः—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः" ॥

म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। तेऽसुराः ॥

(प्रदीपः) तेऽसुरा इति निन्दार्थवादेन **न म्लेच्छितवा** इति म्लेच्छनं निषिध्यते। तत्र केचिदाहुः **हैहेप्रयोगे हैहयोः'** इति प्लुते प्रकृतिभावे च कर्तव्ये तदकरणं म्लेच्छनमिति। पदद्विर्वचने कार्ये वाक्यद्विर्वचनं लत्वं च म्लेच्छनमित्यपरे। **न म्लेच्छितवा** इत्यस्य पर्यायो **नापभाषितवा** इति **कृत्यार्थे** इति। तवैप्रत्ययः। म्लेच्छ इति कर्मणि घञ् ॥

ऊपरवाले प्रतीकों में प्रथम प्रतीक 'तेऽसुराः' बतलाते हैं कि 'वे प्रसिद्ध दैत्य थे', किन्तु 'हे अरयः हे अरयः' अर्थात् 'हे शत्रुओ हे शत्रुओ' के बदले 'हेलयः[1] हेलयः' ऐसा यज्ञस्थल में उच्चारण किया। अतः वे पराभव को प्राप्त हुए। इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपशब्द भाषण नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह अपशब्द है, जो म्लेच्छ रूप से प्रसिद्ध है। हम अपशब्द के प्रयोक्ता न हों इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। 'तेऽसुराः' से यही प्रयोजन अभिमत है।

(भाष्यम्)

दुष्टः शब्दः—

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधाद् ॥" इति ॥

दुष्टाञ्छब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ दुष्टः शब्दः ॥

(प्रदीपः) दुष्टः शब्द इति। स्वरेण स्वरतः। आद्यादित्वात्तसिः **मिथ्याप्रयुक्त इति।** यदर्थप्रतिपादनाय प्रयुक्तस्ततोऽर्थान्तरं स्वरवर्णदोषात्प्रतिपादयन्नाभिमतमर्थमाहेत्यर्थः। वागेव वज्रो हिंसकत्वात्। तथेन्द्रशत्रुशब्दः स्वरदोषाद्यजमानं हिंसितवानित्यर्थः। इन्द्रस्याभिचारो वृत्रेणारब्धस्तत्रेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति मन्त्र ऊहितः। तत्रेन्द्रस्य शातयिता शमयिता भवेति क्रियाशब्दोत्र शत्रुशब्द आश्रितो न तु रूढिशब्दः, तदाश्रयणे हि बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थभेदः। तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धे सतीन्द्रस्य शत्रुर्भवेत्यत्रार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्ते प्रयोक्तव्य **आद्युदात्त** ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः। इन्द्रशत्रुत्वस्य च विधेयत्वात्सम्बोधनविभक्तेरनुवाद्यविषयत्वादिहाभावः। तथा—राजा भव युध्यस्वेति ॥ ऊह्यमानस्य चामन्त्रत्वा**द्यज्ञकर्मणीति** जपादिपर्युदासेन मन्त्राणामेकश्रुतिर्विधीयमानेह न भवति ॥

द्वितीय प्रतीक 'दुष्टः शब्दः' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार बतलाते हैं कि स्वरदोष अथवा वर्णदोष से दोषयुक्त अर्थात् अशुद्ध शब्द जिस अर्थ के

---

१. 'हेलयः' प्रयोग में 'हैहेप्रयोगे हैहयोः' इस सूत्र से प्लुत और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इस सूत्र से प्रकृतिभाव करना चाहिए था, सो नहीं करना म्लेच्छन हुआ। दूसरा म्लेच्छन 'सर्वस्य द्वे' इस सूत्र से जहाँ से पद का द्वित्व किया जाना चाहिए था, वहाँ असुरों द्वारा पूरे वाक्य का द्वित्व कराता है। वैसे ही तीसरा म्लेच्छन रेफ का लत्व करना है।

बोधन के लिए प्रयुक्त हुआ है उससे भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ उस अभिमत अर्थ का कथन नहीं करता है। उस अभिमत अर्थ को नहीं कहता है, केवल उतना ही नहीं, अपितु वह अशुद्ध शब्द वज्र बन कर उसी तरह यजमान का नाश करता है, जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने स्वर के अपराध से यजमान का ही नाश किया[1] था। दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग हम न करें एतदर्थ हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। 'दुष्टः शब्दः' इस प्रतीक से यही प्रयोजन अभिप्रेत है।

(भाष्यम्)

यदधीतम्—

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥"

तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्॥ यदधीतम्॥

(प्रदीपः) अविज्ञातमिति। अविदितस्वरादिसंस्कारत्वादर्थापरिज्ञानाद्वा॥ **निगदेनेति।** पाठमात्रेण। **न तज्ज्वलतीति।** निष्फलं भवति॥ **अनर्थकमिति।** निष्प्रयोजनम्॥

तृतीय प्रतीक 'यदधीतम्' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार बतलाते हैं कि जिसका अध्ययन तो किया गया, किन्तु जिसमें स्वरादि के संस्कार विदित नहीं हुए अथवा अर्थों का परिज्ञान नहीं हो पाया; फलतः जो पाठ मात्र से ही बार-बार शब्दित होता है (नगाड़े की आवाज के समान सूखा-सूखा उच्चारित होता है) उसका वह अध्ययन (जैसे सूखा काठ आग के बिना जल नहीं सकता वैसे ही) प्रकाशमान नहीं होता—निष्फल होता है। अतः बिना अर्थ का ज्ञान प्राप्त किये हम अध्ययन न करें, एतदर्थ व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

'यदधीतम्' इस प्रतीक से यही प्रयोजन अभिप्रेत है।

(भाष्यम्)

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

१. बहुत प्राचीन समय में इन्द्र ने विश्वरूप का किसी कारण से वध कर डाला था। इससे कुपित होकर विश्वरूप के पिता त्वष्टा ने इन्द्रघातक पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा से एक आभिचारिक याग किया। उस याग में 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व' इस मन्त्र का उच्चारण किया गया था। उस मन्त्र का अभीष्ट अर्थ यह था कि 'हे अग्निदेव, तुम्हारे उद्देश्य से हम इस हविष का त्याग करते हैं। तुम इन्द्र के घातक पुरुष होकर वृद्धि को प्राप्त करो।' जब तक कि मन्त्र के प्रभाव से अग्निदेव इन्द्र की हिंसा करने के लिए पुरुष रूप से उद्यत होनेवाले थे, उसके पहले ही मन्त्रगत स्वर के अपराध से अपने आप ही विरत हो गये। उनकी ज्वाला शान्त हो गई। इस वैदिक कथा से यह सिद्ध होता है कि तत्पुरुष का स्वर न कर ऋत्विजों ने बहुव्रीहि का जो स्वर कर दिया। इससे वह उत्पन्न पुरुष (वृत्र) इन्द्र का घातक न होकर इन्द्र ही वृत्र का घातक हो गया। ऋत्विक् के वचन में स्वर आदि के दोष होने से यजमान का विनाश हो जाता है, ऐसा जाननेवाला यजमान अवैयाकरण को ऋत्विक् के पद पर कभी वरण नहीं करेगा अतः ऋत्विक् की वृत्ति से द्रव्यार्जन के लिए व्याकरण का पढ़ना आवश्यक है, यह भाव अपेक्षित है।

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥"

कः ? वाग्योगविदेव ॥ कुत एतत् ? ॥ यो हि शब्दाञ् जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथ वा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम् ॥

(प्रदीपः) यस्तु प्रयुङ्क्ते इति । अनेनाभ्युदयहेतुत्वं व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति ॥ **विशेष इति** । स एव शब्दः क्वचिदर्थे केनचिन्निमित्तेन प्रयुक्तः साधुरन्यथाऽसाधुः । यथाऽस्वेऽस्वशब्दो धनाभावनिमित्तकः साधुर्जातिनिमित्तकोऽसाधुः । गवि च गोणीशब्दः साधर्म्यात्प्रयुक्तः साधुर्जातिप्रयुक्तस्त्वसाधुः ॥ **क इति** । वाग्योगविदः श्रुतत्वाद्दोषदर्शनाच्च प्रश्नः ॥ प्रष्टैव परमतमाशङ्क्याह—**वाग्योगविदेवेति** ॥ **एवमपशब्दज्ञानेऽपीति** ॥ यथा श्लैष्मिकद्रव्यसेवया श्लैष्मिको व्याधिर्भवति तद्विपरीतसेवया त्वारोग्यं तथात्रापि यथोक्तं न्याय्यमिति भावः ॥ **भूयांसोऽल्पीयांस इति** । परमतापेक्षया प्रकर्षे प्रत्ययः । यदि मन्यसे बहवः शब्दा अल्पेऽपशब्दा अङ्गभूयस्त्वाच्च फलभूयस्त्वमिति । तन्न । यस्माद्भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः ॥ **अज्ञानमिति** । यथा च तिरश्चां ब्रह्महत्यादिफलाभावः ॥

चतुर्थ प्रतीक 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार बतलाते हैं कि शब्दों का व्यवहार करते समय जो कुशल व्यक्ति अर्थविशेष[1] में शब्दों का भली भाँति प्रयोग करता है, वह वाणी (शब्द) के योग (अर्थविशेष में सम्बन्ध) का वेत्ता (विद्वान्) स्वर्ग में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है, किन्तु अपशब्दों का प्रयोग करने से वह दोषी सिद्ध होता है।

प्रश्न—तब दोषी कौन होता है ?[2]

उत्तर—वही जो शब्दों के अर्थविशेष में योग का जानने वाला विद्वान् है।

प्रश्न—ऐसा क्यों;

उत्तर—क्योंकि जो साधु शब्दों को जानता है, वही अपशब्दों (असाधु शब्दों) को भी जानता है।[3] और जैसे ही शब्दों के ज्ञान में धर्म माना जाता है, वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान में पाप। वस्तुतः पाप ही अधिक प्राप्त होता है।

१- वही शब्द किसी व्यक्ति, स्थान अथवा अवसर आदि निमित्तों को लेकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ ठीक होता है तो किसी अन्य निमित्त को लेकर अनुचित भी होता है। प्रयोक्ता अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर तब शब्द का प्रयोग करता है।

१. प्रश्न का स्पष्ट अर्थ यह है कि क्या शब्दों के अर्थविशेष में योग का जाननेवाला विद्वान् दोषी सिद्ध होता है अथवा न जाननेवाला जो मूर्ख है वह ?

३. जैसे जिसे चावलों का ज्ञान है, वही यह भी ज्ञान रखेगा कि वह चावल नहीं, चावलों से भिन्न कंकड़-पत्थर आदि अखाद्य पदार्थ हैं। वैसे ही साधु शब्दों का वेत्ता यह ज्ञान भी रखेगा कि यह शब्द नहीं, अपशब्द है।

इसलिए शब्दों के ज्ञान में जो पुण्य और अपशब्दों के ज्ञान में जो पाप होता है, सो शब्दों के प्रयोग को जाननेवाले अर्थात् विद्वान् को ही होता है।

क्योंकि अपशब्द (शब्दों की अपेक्षा) संख्या में अधिक हैं, और साधु शब्द उनसे बहुत थोड़े हैं।

एक-एक साधु शब्द के अनेक अपशब्द होते हैं।

जैसे 'गौः' इस (एक) साधु शब्द के 'गावी', 'गोणी' 'गोता' 'गोपोतलिका' आदि अनेक अपभ्रंश हैं।

प्रश्न—और जो शब्दप्रयोगवेत्ता नहीं है उसको तो उसका अज्ञान ही बचाता[1] है।

(बाधकभाष्यम्)

विषम उपन्यासः[2]। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ॥

(प्रदीपः) **नात्यन्तायेति**। पुरुषाणां विधिनिषेधयोरधिकारात्तत्परिज्ञाने प्रयत्नस्य न्याय्यत्वात्।

खण्डन करनेवाला कहता है कि ऐसा कहना असंगत है। शब्दप्रयोग को न जाननेवाले का अज्ञान सर्वथा उसकी रक्षा करेगा, ऐसा संभव नहीं। क्योंकि हम ऐसा मानते हैं कि जो न जानता हुआ भी ब्राह्मण का वध कर डाले अथवा मद्य का पान कर ले तो वह भी पतित (समाज से च्युत) होता ही है।

(सिद्धान्तव्याख्याभाष्यम्)

एवं तर्हि—

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः ? ॥ अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम् ॥

(प्रदीप) प्रकरणात्सामर्थ्यं बलीय इत्याह—**अवाग्योगविदिति**। वाग्योगवित्तूभयज्ञोपि शब्दान्प्रयुङ्क्ते नापशब्दानिति ज्ञानपूर्वकप्रयोगादभ्युदयभाग्भवति ॥

उक्त वाक्य का सिद्धान्तभूत व्याख्यान करनेवाला कहता है कि ऐसी बात है तब 'सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः' इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया जायगा कि 'वह वाणी (शब्द) के योग्य (अर्थविशेष में सम्बन्ध) का (विद्वान्) स्वर्ग में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है, किन्तु अपशब्दों के प्रयोग करने से वह दोषी सिद्ध होता है'।

प्रश्न—तब दोषी कौन सिद्ध होता है ?

उत्तर—वही, जिसे शब्दप्रयोग का ज्ञान नहीं है।

किन्तु जो शब्दप्रयोगवेत्ता है उसको तो उसका ज्ञान ही बचाता है ?

(आक्षेपभाष्यम्)

क पुनरिदं पठितम् ? ॥

---

१. तात्पर्य यह है कि जो साधु शब्दों का प्रयोग करना नहीं जानता, उसे न पुण्य मिलता है और न पाप ही लगता है।

२. पूना और कीलहॉर्न वाले संस्करणों में 'विषम उपन्यासः' यह पाठ नहीं मिलता।

(प्रदीपः) श्लोकस्यापरिज्ञानात्पृच्छति—**क्व पुनरिति**। प्रातिपदिकार्थप्रश्न एवात्र तात्पर्यम्—किं तदस्ति यत्रेदं पठितमित्यर्थः। अत एव श्लोका इति प्रथमान्तेनोत्तरम्। अन्यथा श्लोकेष्विति वक्तव्यं स्यात् ॥

अब प्रश्नकर्ता पूछता है कि अच्छा यह पद्य कहाँ पढ़ा गया है ?

(समाधानभाष्यम्)

भ्राजा नाम श्लोकाः ॥

समाधाता उत्तर देता है कि कुछ ऐसे श्लोक हैं जिनकी प्रसिद्धि 'भ्राज'[1] नाम से है। उन्हीं श्लोकों में यह श्लोक भी है।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं च भोः श्लोका[2] अपि प्रमाणम् ? ॥

किं चातः ? ॥

यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति—

"यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ॥
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत् ॥" इति ॥

(प्रदीपः) आप्तोक्तत्वापरिज्ञानादाह—**किं च भो इति** ॥ **यदुदुम्बरेति**। अयं श्लोकः सौत्रामाणियागे सुरापानस्य दुष्टत्वमुद्भावयति ॥

इस पर प्रश्नकर्ता पूछता है कि अजी, क्या श्लोक भी (किसी तथ्य के निर्णय में) प्रमाण होने योग्य है ?

प्रश्न—इस प्रश्न से आप कहना क्या चाहते हैं ?

उत्तर—यदि श्लोक भी (किसी तथ्य के निर्णय में) प्रमाण होने योग्य हैं तब यह (निम्ननिर्दिष्ट) श्लोक भी प्रमाण होने योग्य है—

'मदिरालय में तामे जैसी लाल रंगोंवाली कलसियों के विशाल मण्डल में प्राप्त मद्य पीने पर पीनेवाले को यदि स्वर्ग नहीं पहुँचा देता तो क्या सौत्रामणि नाम के यज्ञ में अति स्वल्प मात्रा में पीने से वह स्वर्ग में पहुंचा देता है ?'[3]

(समाधानभाष्यम्)

प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः। यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत् प्रमाणम् ॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

१. कैयट का कहना है कि ये 'भ्राज' नाम के श्लोक कात्यायन के रचे हुए हैं।

२. पूना और कीलहॉर्न वाले संस्करणों में 'श्लोका अपि' यह अंश पठित नहीं है।

३. भावार्थ यह है कि सौत्रामणि यज्ञ में थोड़ी-सी मदिरा के पान से यदि पीनेवाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तब मदिरालय में पर्याप्त मदिरा के पान से अवश्य ही पीनेवाले को स्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिए। अतः यज्ञ की अपेक्षा मदिरालय में ही मदिरा का पान श्रेयस्कर ठहरता है और यदि मदिरालय में इसलिए नहीं पीते हैं कि पीने से दोष की सम्भावना है तब तो यज्ञ से सर्वथा पान का त्याग ही उत्तम है। क्योंकि यज्ञ में पीने से विशेष दोष के साथ-साथ वैयर्थ्य की भी सम्भावना है। ऐसी स्थिति में जो वेद उक्त यज्ञ में मद्यपान का विधान करता है वह वेद और उससे बोध्य यज्ञ हेय हो जाते हैं।

(प्रदीपः) प्रमत्तगीत इति। प्रमादेन विप्रतिपन्नत्वेन गीत इत्यर्थः। कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य त्वस्य श्लोकस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति—**"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवती"**ति॥

इस पर समाधानकर्ता कहता है कि यह वाक्य प्रमाण नहीं है। क्योंकि यह प्रमत्त से उच्चरित हुआ है। जो वाक्य प्रमत्त द्वारा उच्चरित नहीं हो, वह प्रमाण होता है। 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥"
अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ अविद्वांसः॥

(प्रदीपः) स्त्रीष्विवेति। प्रत्यभिवादे हि गुरुणा प्लुतः कार्यः। यस्तु प्लुतं कर्तुं न जानाति स स्त्रीवद्वक्तव्योऽयमहमिति, न 'अभिवादये देवदत्तोऽहम्' इत्यादिना संस्कृतवाक्येनेत्यर्थः॥

अब 'अविद्वांसः' इस पञ्चम प्रतीक से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि जो अवैयाकरण प्रत्यभिवादन (नमस्कार के उत्तर) में नामों में प्लुत करके उच्चारण करना नहीं जानते हैं, उनके विषय में प्रवास से लौटने के बाद 'यह मैं आ गया' ऐसा उसी प्रकार कहे जैसे प्रवास से लौटने पर स्त्रियों के विषय में कहा जाता है। प्रणाम करते समय स्त्रियों के विषय में जैसा कहा जाता है वैसा ही हमारे विषय में भी न कहा जाय, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है।[1] 'अविद्वांसः' इस प्रतीक से सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—"प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्॥ विभक्तिं कुर्वन्ति॥

(प्रदीपः) प्रयाजा इति। प्रयाजमन्त्रा ऊह्यमानाग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थः। यथा **"समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न"** इति।

'विभक्तिं कुर्वन्ति' इस षष्ठ प्रतीक से सूचित प्रयोजन को यहाँ भाष्यकार

---

१. आचार्य पाणिनि के समय की एक आश्रम-संस्कृति पर आधारित सभ्य समाज की रीति को (जो कि उनके सूत्र से सिद्ध है) भगवान् भाष्यकार ने व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजन रूप में यहाँ बतलाया है। पाणिनिकाल में नमस्कार करनेवाले को गुरुजन नाम का उच्चारण कर और उस नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत कर आशीर्वाद दिया करते थे। जैसे—आयुष्मानेधि देवदत्त ३। अवैयाकरण नाम के अन्त में प्लुत करने में समर्थ नहीं हो सकता था और नहीं करने पर सभ्य समाज में वह प्रणम्य भी नहीं हो सकता था।

बतलाते हैं कि 'विभक्त्यन्त किये जायँ क्योंकि याज्ञिक ऐसा कहते हैं कि प्रयाज[1] मन्त्रों का उच्चारण समुचित विभक्त्यन्त करके करना चाहिए। चूँकि व्याकरण के अध्ययन के बिना प्रयाज मन्त्रों को विभक्त्यन्त करके उच्चारण करना संभव नहीं, अतः व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है। 'विभक्तिं कुर्वन्ति' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(**भाष्यम्**)

योवा इमाम्—

"यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति" आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ यो वा इमाम्।

(**प्रदीपः**) **पदश इति**। पदं पदमिति **संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामिति** शस्। **स्वरश इति**। स्वर उदात्तादिः॥ **अक्षरश इति**। ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनो यजमानः। ऋत्विक्कर्मार्हतीति याजकोऽप्यार्त्विजीनः। **यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञाविति** सूत्रेण **यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानमिति** वार्तिकेन च खञ्॥ **विद्वान्यजेत विद्वान्याजयेदिति** द्वयोरपि विदुषोरधिकारात्॥

'यो वा इमाम्' इस सातवें प्रतीक से सूचित प्रयोजन को यहाँ भाष्यकार बतलाते हैं कि (जो इस सन्निहित और प्रत्यक्ष) वेदरूप वाणी के प्रत्येक पद, प्रत्येक उदात्तादि स्वर और प्रत्येक अक्षर (अच् और व्यञ्जन) का निश्चय यही संस्कारपूर्वक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन (यजमान अथवा याजक) बनता है। हम भी आर्त्विजीन होवें एतदर्थ व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।[2] 'यो वा इमाम्' इस प्रतीक से सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(**भाष्यम्**)

चत्वारि—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥" इति।

चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च॥ त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः॥ द्वे शीर्षे। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च॥ सप्त हस्तासो अस्य। सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः। त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति॥ वृषभो वर्षणात्॥ रोरवीति शब्दं करोति॥

कुत एतद्?।—रौतिः शब्दकर्मा॥ महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति।

---

१. अग्नि शब्द के आगे विभक्ति का ऊह करके 'अग्ने अग्ने' इत्यादि प्रयाज मन्त्रों को पढ़ना पड़ता है।

२. 'विद्वान् यजेत विद्वान् याजयेत्' इस कथन के अनुसार यज्ञ करने अथवा कराने दोनों का अधिकार उसी को है जो व्याकरणानुसार प्रत्येक पद, स्वर और अक्षर का संस्कार जानता है।

महान् देवः शब्दः ॥ मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यदित्यध्येयं व्याकरणम् ॥

(प्रदीपः) **चत्वारीति**। शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम् ॥ **त्रयः काला इति**। लडादिविषयाः ॥ **नित्यः कार्यश्चेति**। व्यङ्गयव्यञ्जकभेदेन। **सप्त विभक्तय इति**। सुप इत्यर्थः ॥ केचित्तु तिङामपरिग्रहप्रसङ्गात्सह शेषेण सप्त कारकाणि विभक्तिशब्दाभिधेयानीति व्याचक्षते ॥ **वर्षणादिति**। कामानां ज्ञानपूर्वकानुष्ठानफलत्वात् ॥ **महतेति**। परेण ब्रह्मणेत्यर्थः ॥

आठवें प्रतीक 'चत्वारि' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि "इसे चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ यह वृषभ यह कहता है कि—"यह महान् (शब्दरूपी) देवता मृत्युलोक के प्राणियों में प्रविष्ट हुआ है।"

चार सींग कहने से चार[1] प्रकार के पदसमूह (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी[2]) और (प्रकारान्तर से) सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग और निपात समझे जाते हैं। तीन पैर का अर्थ है तीन काल—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। दो सिर अर्थात् शब्द के दो स्वरूप—नित्य और कार्य। सात हाथ अर्थात् प्रथमा, द्वितीया आदि सातों विभक्तियाँ।

तीन स्थानों पर अर्थात् छाती, कण्ठ और माथे पर बँधा। (जैसे बादल जल की वृष्टि करता है वैसे ही) सब फलों के देने से वह वृषभ है। रोरवीति

---

१. तात्त्विक दृष्टि से नाम और आख्यात ये ही पद के दो मुख्य विभाग हैं, अत एव पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र में पद को सुबन्त (नाम) और तिङन्त (आख्यात) इन दो भागों में विभक्त किया है, तो भी व्यावहारिक दृष्टि से पद चार प्रकार का है। यहाँ भगवान् भाष्यकार ने इन्हीं व्यावहारिक चारों प्रकारों को ऋग्वेद के दो मन्त्रों का उल्लेख कर ऋषिसम्मत सिद्ध किया है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने लिखा है—
'द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्।'

२. परा आदि वाक्तत्त्व के चार भेद हैं—(१) **परा वाक्** मूलाधार चक्र में स्थित मानी जाती है। इस परा अवस्था में द्वैत बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है। और परातत्त्व के साक्षात्कार के कारण अधिकार की निवृत्ति हो जाती है। षोडश कलापूर्ण पुरुष में उसे अमृत अर्थात् अक्षयकला कहा जाता है। (२) **पश्यन्ती** वाणी उसे कहते हैं जो योगियों को नाभिचक्र में प्रत्यक्ष होती है, जिसमें न भेद है, न क्रम है। वह स्वप्रकाशरूप और लोकव्यवहारातीत है। अन्तःस्तल में वह प्रकाशरूप है। उसमें कोई आकार नहीं है। थोड़े में ऐसा भी कह सकते हैं कि वह एक प्रकार की निर्विकल्प समाधि है। परा से पश्यन्ती में यही भेद है कि योगी जन इसमें तो योग द्वारा प्रकृति-प्रत्ययों का भेद देख लेते हैं किन्तु परा में कुछ भी नहीं देख पाते। (३) **मध्यमा** उस हृदय-नाद को कहते हैं जो कि अन्तर का संकल्प रूप है। जिसका उपादानकारण केवल बुद्धि है। जो क्रमयुक्त और प्राणवृत्ति से परे है। वह सूक्ष्म है। यद्यपि उसमें क्रमों का संहार है तो भी क्रमशक्ति से युक्त है। वह अभिव्यक्ति से रहित है। उसमें पदों का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह व्यवहार का कारणभूत है। (४) **वैखरी वाणी** उसे कहते हैं जो कण्ठ, तालु आदि स्थानों में वायु के विकृत होने पर वर्ण का स्वरूप धारण कर लेती है। यह वाणी श्रवण का विषय बनती है।

का अर्थ है 'शब्द करता है'। प्रश्न—यह अर्थ कैसे होता है? उत्तर—क्योंकि 'रु' धातु का अर्थ है 'शब्द करना'। 'महो देवो मर्त्यां आविवेश' इस वाक्य में महान् देव से 'शब्द' यह अर्थ लेना चाहिए। मर्त्य से मृत्युवाले प्राणी अर्थात् मनुष्य गृहीत होते हैं। अतः इस पूरे वाक्य का अर्थ होता है—महान् देव जो शब्द है वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ। महान् देव अर्थात् शब्द से अपना तादात्म्य हो इसलिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

(भाष्यम्)

अपर आह—

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि।' चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ॥ 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।' मनस ईषिणो मनीषिणः। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति।' गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते। न निमिषन्तीत्यर्थः ॥ 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।' तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः ॥ चत्वारि ॥

(प्रदीपः) चत्वारीत्यनेनैकदेशेन सदृशेन वाक्यान्तरमपि सूच्यत इत्याह—**अपर आहेति**। परिमितानीति प्राप्ते **शेश्छन्दसि बहुलमिति** शेर्लोपे परिमितेति भवति। परिमितानि परिच्छिन्नान्येतावन्त्येवेत्यर्थः ॥ मनीषिशब्दः **पृषोदरादि**त्वात्साधुः। कथं मनीषिण एव विदन्तीत्याह—**गुहेति**। अज्ञानमेव गुहा तस्यामित्यर्थः। **सुपां सुलुगिति** सप्तम्या लुक्। व्याकरणप्रदीपेन तु तानि प्रकाशन्ते। तत्र चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति **नेङ्गयन्तीत्य**स्यैव व्याख्यानं न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीति ॥

अन्य व्याख्यानकर्ता 'चत्वारि' इस प्रतीक से अन्य ऋचा 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' इत्यादि समझते हैं। उस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है—'शब्द के निश्चित चार पद (स्थान) हैं, उन चारों स्थानों को वे ही जान पाते हैं, जो ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग वेद के जानने वाले ब्राह्मण और मन के ऊपर काबू रखनेवाले मनीषी हैं। क्योंकि इन चारों पदों में तीन तो अज्ञानरूपी अँधेरी गुफा में पड़े होने से प्रकाशमान नहीं हैं। मनुष्य जिसका उच्चारण करते हैं, वह शब्द का चौथा पद अर्थात् वाणी का चतुर्थ भाग होता है। ऋग्वेद १.१६४.४५।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' इस वाक्य का अर्थ है—शब्द के चार निश्चित स्थान हैं अर्थात् शब्द चार प्रकार के हैं—परा[१], पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तथा (प्रकारान्तर से) नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः" ॥ इस वाक्य में मनीषिणः का अर्थ है मन पर

१. नागेश भट्ट ने 'पदजातानि' इस पद से परा, पश्यन्ती आदि चार भेदों को लिया है। इसीलिए भाष्यकार का 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' में च का कथन सङ्गत होता है।

काबू रखनेवाले अर्थात् व्याकरण पढ़कर जो अपने मन को वश में रखते हैं। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति' का अर्थ है—गुहा अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार में तीन (शब्द के निश्चित स्थान) निहित हैं इसलिए कोई हलचल नहीं करते (प्रकाशित नहीं होते)। 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' का वाक्यार्थ यह है कि मनुष्यों में यह जो वाणी का स्थान है, सो वस्तुतः शब्द का चतुर्थ भाग है।[1] 'चत्वारि' इस प्रतीक से सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

उत त्वः—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥"

'उत त्वः' अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः श्रृण्वन्नपि न श्रृणोत्येनामिति। अविद्वांसमाहार्धम्॥ उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे तनुं विवृणुते॥ जायेव पत्य उशती-सुवासाः। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते, एवं वाग् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते॥ वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्॥ उत त्वः॥

(प्रदीपः) उत त्व इति। त्वशब्दोऽन्यवाची। उतशब्दोऽपि शब्दस्यार्थे। स च भिन्नक्रमः। प्रत्यक्षेण शब्दस्वरूपमुपलभमानोऽप्यर्थापरिज्ञानान्न पश्यतीत्यर्थः। **उतो इति।** उत उ इति निपातसमाहारः॥ **अविद्वांसमाहार्धमिति।** अविद्वल्लक्षणमर्थमर्धर्चं आहेत्यर्थः॥

नवें प्रतीक 'उत त्वः' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि एक (अवैयाकरण) वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता; वैसे ही एक उसे (वाणी को) सुनता हुआ भी सुन नहीं पाता। किन्तु जिस प्रकार काम-युक्त भार्या सुन्दर कपड़ों से सजी होने पर भी पति के उद्देश्य से अपने शरीर को खोल देती है, उसी प्रकार एक (वैयाकरण) के लिए वाणी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। (ऋग्वेद १०.७१.४)

उक्त ऋचा का खण्डशः व्याख्यान स्वयं भाष्यकार ही करते हैं—जो वैयाकरण नहीं है, वह वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता अर्थात् वाणी का अध्ययन करने पर भी उसके यथार्थ स्वरूप को जान नहीं पाता है। वैसे ही जो वैयाकरण नहीं है वह उस वाणी को सुनकर भी सुन नहीं पाता

---

१. चारों पदों में (वाक् के उक्त चार विभागों में से) प्रथम तीन निश्चेष्ट, निष्क्रय और निरञ्जन रूप से रहते हैं। केवल चतुर्थांश ही है जिसको मनुष्य प्रयोग में लाता है। यही स्पष्टार्थ है। कैयट ने इसे यों स्पष्ट किया है कि चारों पदों में से प्रत्येक के चार भाग है और अवैयाकरण केवल चतुर्थ भाग का ही उपयोग करते हैं और उसको ही बोलते हैं। नागेश का कथन है कि चतुर्थांश ही ज्ञान का विषय है अतः वेद ने मनुष्यों में चतुर्थ भाग की सत्ता बताई है।

(अर्थात् उसके लिए वाणी अश्रुत-सी[१] ही रहती है। उक्त ऋचा का पूर्वार्ध व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति को ध्यान में रखकर कहा गया है।

'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' इस वाक्य में 'तन्वं विसस्रे' का अर्थ है अपने शरीर को खोल देती है अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' इस अन्तिम चरण में आलङ्कारिक रूप में यह बतलाया गया है कि जैसे कोई कामिनी स्त्री पति के लिए सुन्दर वस्त्रों द्वारा सजी हुई होने पर भी अपने शरीर को प्रकट कर देती है, वैसे ही वाणी पर स्वामित्व रखने वाले व्यक्ति के आगे वाणी अपना स्वरूप खोल कर रख देती है। वाणी हमारे निकट अपना स्वरूप प्रकट कर दे इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है। 'उत त्वः' इस प्रतीक से सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

सक्तुमिव—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥"

सक्तुः—सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति। तितउ—परिपवनं भवति—ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते।

क्व ?—

य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः॥

के पुनस्ते ?—

वैयाकरणाः॥

कुत एतत् ?।—

'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।'

एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति ! सक्तुमिव॥

(प्रदीपः) **सचतेरिति**। षच सेचन इत्यस्य। **दुर्धाव इति**। दुःशोधः। यथा तितउना सक्तोस्तुपाद्यपनीयते तथा व्याकरणेन वाचोऽपशब्दा इत्यर्थः। **कसतेरिति**। पृषोदरादित्वाद्वर्णव्यत्ययः॥ **ततवदिति**। विस्तारयुक्तमित्यर्थः। **तुन्नवदिति**। बहुच्छिद्रम्॥ **धीरा इति**। वैयाकरणाः॥ **वाचमक्रतेति**। अपशब्देभ्यो विविक्तां कृतवन्तः। **मन्त्रे घसेति**। लेर्लुकि सत्यक्रतेति रूपम्॥ **अत्रासखाय इति**। **ऋचि तुनुघेति** दीर्घः। सखायः समान-

---

१. यदि व्याकरण का अध्ययन नहीं किया हुआ व्यक्ति कानों से किसी शब्द को सुन भर लेता है, तो उस सुने गये शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं रहने से उसका सुनना उसी प्रकार व्यर्थ होता है जैसे पशु और पक्षियों का सुनना निरर्थक होता है।

ख्यातयो भेदग्रहस्य निवृत्तत्वात्सर्वमेकमिति मन्यन्ते ॥ **सख्यानीति** । सायुज्यानीत्यर्थः । **एकगम्य इति** । ज्ञानेनैव प्राप्यः ॥ **वाचीति** । वेदाख्ये ब्रह्मणि या लक्ष्मीर्वेदान्तेषु परमार्थसंविल्लक्षणोक्ता सैषां निहितेत्यर्थः ॥

दसवें प्रतीक 'सक्तुमिव' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि जिस प्रकार चलनी से सत्तू चाल ली जाती है, उसी प्रकार पण्डित जन बुद्धि[1] द्वारा वाणी को शुद्ध कर अर्थात् असाधु शब्दों से अलग कर उसका उच्चारण करते हैं। उन वैयाकरण विद्वानों के अन्तःकरण प्रकृति-प्रत्ययों के विभागों का पहले ज्ञान रखने के अनन्तर साधु शब्दों का प्रयोग करने के कारण[2] शुद्ध हो चुके रहते हैं, उन विद्वानों को पहले शब्द और अर्थों में अभेद का ज्ञान होने से व्याकरण जिसका प्रतिपादन करता है उसे शब्द के प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय में समान ख्याति अर्थात् समान ज्ञान हो जाता है और अब उन्हें सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है। क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी[3] बहुत अधिक रहती है। (ऋग्वेद १०.७१.२.)

सक्तु शब्द का अर्थ है 'सत्तू'। सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सच् का अर्थ है चिपकना। अतः सत्तू का शोधन कठिन कार्य है। अथवा कस धातु में वर्ण-विपर्यय[4] कर के 'सक्तु' शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विकसित होने वाला यह अर्थ प्रतीत होता है। तितउ वह वस्तु है जिससे किसी पदार्थ का शोधन किया जाता है। लोक में चलनी को तितउ कहते हैं। 'विस्तारयुक्त'[5] अथवा 'बहुत छिद्रों से युक्त' होने के कारण उसका 'तितउ' यह नाम पड़ा है। धीर[6] का अर्थ है व्याकरणविषयक ध्यान वाले। मनसा का अर्थ है मानस ज्ञान से। वाचमक्रत में 'अक्रत' का अर्थ है अकृषत अर्थात् अपशब्दों से वाक् (शब्दों) को अलग करते थे। 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते' का आशय यह है कि उन वैयाकरण विद्वानों को यहाँ शब्द और अर्थ के बीच एकत्व भावना होती है। तब वे ऐसा मानते हैं कि सभी के साथ उनका एकत्व हो चुका है अर्थात् उन्हें ब्रह्मज्ञान हो चुका है। प्रश्न—यह जो यहाँ शब्द-अर्थ के बीच

---

१. ध्यानयुक्त मन की सहायता से होनेवाले ज्ञान के द्वारा।

२. अर्थात् वाणी का शुद्धता का सम्पादन करने से।

३. स्वप्रकाश ब्रह्मरूप।

४. पृषोदरादि मानकर कस धातु में वर्णविपर्यय अर्थात् वर्णों में हेर-फेर करने से भी 'सक्तु' शब्द बनता है।

५. तनु धातु से 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' इस उणादि सूत्र से जब डउ प्रत्यय होता है तब तितउ शब्द से 'विस्तारयुक्त' यह अर्थ होता है। और तुद धातु से 'कर्मणि डउः सन्वच्च' इस सूत्र से जब डउ प्रत्यय होता है तब तितउ शब्द से बहुत छिद्रों से युक्त यह अर्थ समझा जाता है।

६. धा धातु से औणादिक कन् प्रत्यय करने पर घुमास्था (६.४.६६) इत्यादि सूत्र से ईत्व करने के बाद धीर शब्द बनता है। धातुओं के अनेकार्थ होने से ध्यानवाले अर्थ की प्रतीति होती है।

एकत्व भावना होती है वह कहाँ होती है ? उत्तर—यह जो दुर्गम अर्थात् अति कठोर (मोक्ष का) मार्ग है, जो एकमात्र ज्ञान से ही उपलब्ध होने योग्य है तथा जो वेदरूप वाणी का विषय है, वहाँ अर्थात् उसी स्थान पर होती है। प्रश्न—वे समान ज्ञान वाले हैं कौन ? उत्तर—वैयाकरण। प्रश्न—वे समान ज्ञान प्राप्त कैसे करते हैं ? उत्तर—'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।' अर्थात् इनकी वेदवाणी में कल्याणमयी सर्वभासक ब्रह्मरूप जो लक्ष्मी है, वह बहुत अधिक रहती है। लक्षण (भासन) अर्थात् प्रकाशित होना इस गुण के कारण अज्ञान के निवर्तन (हटाने) में समर्थ होती है अतः उसे लक्ष्मी कहा जाता है। 'सक्तुमिव' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति—"आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्" इति॥

प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सारस्वतीम्।

(प्रदीपः) प्रायश्चित्तीयामिति। भवार्थे वृद्धाच्छः॥ **प्रायश्चित्तीया इति**। प्रायश्चित्ताय पापशोधनाय श्रुतिस्मृतिविहिताय कर्मणे हितास्तन्निमित्तोत्पादना मा भूमेत्यर्थः॥

ग्यारहवें प्रतीक 'सारस्वतीम्' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार बतलाते हैं कि याज्ञिक जन ऐसा कहते हैं—'जो अग्नि की स्थापना कर उसका पालन करता है, वह यदि असाधु शब्द का प्रयोग करे तो वह पापशोधन द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के हेतु सरस्वती देवता को उद्देश्य कर इष्टि करे।' हम प्रायश्चित्त के योग्य न हों एतदर्थ हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। 'सारस्वतीम्' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

दशम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति—दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। "द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्" इति॥

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्॥ दशम्यां पुत्रस्य॥

(प्रदीपः) दशम्युत्तरकालमिति। दशम्या उत्तर इति **पञ्चमीति**। योगविभागात् समासः। ततः कालशब्देन बहुव्रीहिः। क्रियाविशेषणं चैतत्। दश दिशान्यशौचं भवतीति दशम्युत्तरकालमित्युक्तम्। येऽपि गृह्यकाराः पठन्ति **दशम्यां पुत्रस्येति**, तैरपि दशम्यामिति सामीपिकमधिकरणं व्याख्येयम्। **घोषवदादीति**। घोषवन्तो ये वर्णाः शिक्षायां प्रदर्शितास्तदादि॥ **अन्तरन्तःस्थमिति**। मध्ये यरलवा यस्य तदित्यर्थः। **त्रिपुरुषानूकमिति**। नामकरणे योऽधिकारी पिता तस्य ये त्रयः पुरुषास्ताननुकायत्यभिधत्त इति त्रिपुरुषानूकम्। **अन्येषामपि दृश्यते** इति दीर्घः॥

बारहवें प्रतीक 'दशम्यां पुत्रस्य' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार यहाँ बतलाते हैं कि याज्ञिक जन[१] ऐसा कहते हैं—"जन्म के दसवें दिन के बाद नवजात पुत्र का नामकरण हो। नाम का पहला व्यञ्जन घोष[२] होना चाहिए। मध्य का व्यञ्जन अन्तःस्थ होना चाहिए। नाम का प्रारम्भ वृद्धसंज्ञक स्वरों (आ, ऐ, औ) से नहीं होना चाहिए। पुत्र के नामकरण के अधिकारी जो पिता उनके पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीन पुरुषों के नाम का कुछ अंश उस नाम में होना चाहिए। नाम मनुष्य का न होकर देवता आदि का होना चाहिए। नाम ऐसा होना चाहिए कि उसे शत्रुओं में प्रतिष्ठा प्राप्त न हो। ऐसा ही नाम प्रतिष्ठिततम होता है। नाम दो अथवा चार अक्षरों के हों। नाम कृदन्त हों, तद्धितान्त न हों।"[३] व्याकरण पढ़े बिना कृत् अथवा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान होना संभव नहीं है। 'दशम्यां पुत्रस्य' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(भाष्यम्)

सुदेवो असि—

'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥'

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। अनुक्षरन्ति कांकुदम्। काकुदं तालु। काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यथा—शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्तात्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः॥ सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सुदेवो असि॥

(प्रदीपः) सुदेवो असीति। वरुणस्येयं स्तुतिः। यतो हेतोर्व्याकरणज्ञानाद्वरुण सत्यदेवोऽसि ततो हेतोरन्येऽपि सत्यदेवा भवन्तीत्यर्थः। **सिन्धव इति**। नद्य इव विभक्तय इत्यर्थः। **अनुक्षरन्तीति**। तात्वनुप्राप्य प्रकाशन्त इत्यर्थः॥ **सास्मिन्नुद्यत इति**। अनेकार्थत्वाद्धातूनामुत्क्षिप्यत इत्यर्थः। **सूर्म्यमिति**। सूर्मीमिति प्राप्ते **अमि पूर्व** इत्यत्र **वा छन्दसी**त्यनुवृत्त्या यणादेशः॥

तेरहवें प्रतीक 'सुदेवो असि' से सूचित प्रयोजन को भाष्यकार बतलाते हैं कि हे वरुण, तू सत्यदेव (यथार्थ देव) है। क्योंकि जिस प्रकार भीतर से पोली

१. कुछ लोग याज्ञिक का अर्थ 'यज्ञ काण्ड में होनेवाले वैदिक शब्द' करते हैं।

२. वर्ग के तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्ण और य, र, ल, व, ह ये ही घोष कहे जाते हैं। देखिए—सिद्धान्तकौमुदी के संज्ञाप्रकरण में 'खय यमाः खयः ≍क≍पौ विसर्गः शर एव च। एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते। कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः' इत्यादि अंश। वृद्ध संज्ञा के लिए पाणिनिसूत्र 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' [१.१.७३] द्रष्टव्य है।

३. नामकरण सम्बन्धी इस विधान द्वारा हमारे पूर्वजों की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मदृष्टि का कैसा अच्छा परिचय प्राप्त हो रहा है! इससे उनके भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी पता चल जाता है। नामकरण में यदि उक्त नियमों का पालन न किया जाय तो जीभ और कान दोनों के लिए ये नाम खटकनेवाले होंगे।

किसी सुन्दर लौह प्रतिमा में प्रवेश कर, उसके मल को जलाकर, आग उसे शुद्ध कर डालती है, उसी प्रकार तुझ से सात नदियों की भाँति सात विभक्तियाँ तालु देश में पहुँच कर उसे प्रकाशित करती हैं। (ऋ० ८।६९।१२)

'सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि' इस ऋङ्मन्त्र का भाष्यकार खण्डशः व्याख्यान करते हैं कि हे वरुण, तू सुदेव अर्थात् सत्यदेव (यथार्थ देव) है। 'यस्य ते सप्त सिन्धवः' में सप्त सिन्धु का तात्पर्य सात विभक्तियों से है। 'अनुक्षरन्ति काकुदम्' इसमें 'काकुदम्' का अर्थ है—तालु। क्योंकि काकुदम् की ऐसी व्युत्पत्ति की जाती है कि 'काकु' अर्थात् जिह्वा जहाँ 'नुद्यते' अर्थात् प्रेरित होती है (घुमाई जाती है) वह स्थान काकुद है। 'सूर्म्यं सुषिरामिव' इस दृष्टान्त से बतलाते हैं कि जिस प्रकार भीतर से पोली किसी सुन्दर लौह प्रतिमा में प्रवेश करके उसके मल को जला कर आग उसे शुद्ध कर डालती है, उसी प्रकार तुझ से प्रवाहित होती हुई ये सात विभक्तियाँ तालु देश को प्रकाशित करती हैं। इसलिए हे वरुण, तू सचमुच देव है। हम यथार्थ रूप से देवता बनें, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है। 'सुदेवो असि' इस प्रतीक द्वारा सूचित प्रयोजन पर विचार समाप्त हुआ।

(उक्तप्रयोजनग्रन्थोपपत्तिप्रकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किंचित् ॐ इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ?॥

(प्रदीपः) किं पुनरिति। ननु **कानि पुनरस्येति** येन पृष्टं, स एव कथं पृच्छति—**किं पुनरिति**। एवं तर्हि भाष्यकारः प्रयोजनान्वाख्यानस्य विषयविभागं दर्शयति। **पुरा** वेदाध्ययनात्पूर्वं व्याकरणमधीयते ते बाल्यात्प्रष्टुमसमर्था इति न प्रयोजनमन्वाख्येयम्। अद्यत्वे तु स्वल्पायुष्ट्वात्पूर्वमेव वेदं प्रधानमधीयते ततः प्रष्टुं समर्थत्वाद्व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनं पृच्छन्तीत्यवश्यान्वाख्येयं प्रयोजनम्॥ **न पुनरन्यदिति** वेदमप्यधिजिगांसमानेभ्य इत्यर्थः॥ **ॐ इत्युक्त्वेति**। अभ्युपगम्येत्यर्थः। **वृत्तान्तश इति**। वृत्तान्तः प्रपाठक उच्यते। वृत्तान्तं वृत्तान्तं पठन्तीत्यर्थः॥

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जो व्याकरण के अध्ययन के लिए इच्छा रखते हैं उन्हीं के लिए व्याकरण के अध्ययन से होने वाले लाभ को यहाँ बतलाया गया है। व्याकरण से भिन्न (वेद आदि) को पढ़नेवालों के लिए लाभ क्यों नहीं बतलाया गया ? क्योंकि बहुत से लोग लाभ की उत्कण्ठा जताये बिना ही (एकाएक) आरम्भ करते समय 'ॐ' का उच्चारण करके एक-एक पाठ के क्रम से 'शं नो देवीर०' इत्यादि वैदिक वाक्यों को पढ़ते हैं।

(समाधानभाष्यम्)

पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते॥ तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—

'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः,
अनर्थकं व्याकरणम्' इति। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम्—इति ॥

(प्रदीपः) अद्यत्व इति। अद्यत्वेशब्दो निपातोऽस्मिन् काल इत्यत्रार्थे वर्तते ॥ **त्वरिता इति**। विवाहादौ ॥

समाधानकर्ता उक्त आक्षेप का यों उत्तर देता है कि पुराने युगों में यह बात थी कि उपनयन संस्कार हो चुकने पर ब्राह्मण पहले व्याकरण पढ़ा करते थे और (व्यायकरण पढ़ने पर) जब उन्हें स्थान[1], करण[2] और अनुप्रदानों[3] का ज्ञान हो चुकता था। तभी वेद पढ़ाये जाते थे। आज के युग में वह बात नहीं रही। वेदाध्ययन समाप्त होते ही विवाहादि के विषय में उत्सुक होते हुए लोग ऐसा कहना आरम्भ कर देते हैं कि—'वेदों के अध्ययन से हमें वैदिक शब्दों का ज्ञान सिद्ध हुआ है और लोकव्यवहार से लौकिक शब्दों का भी ज्ञान सिद्ध हो चुका है। अतः व्याकरण का पढ़ना निष्प्रयोजन है। उन विपरीत पदार्थों को अपनी बुद्धि का विषय बनाने वाले छात्रों के उद्देश्य से सुहृद् के समान होकर आचार्य 'ये प्रयोजन हैं जिनके लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है' इस बात को ध्यान में रखते हुए व्याकरण शास्त्र का प्रतिपादन करते हैं।

(अनुबन्धचतुष्टयोपसंहारभाष्यम्)

उक्तः शब्दः। स्वरूपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि ॥

उपसंहार करने वाला कहता है कि व्याकरण शास्त्र के विषयभूत शब्द का विवेचन किया गया। शब्दों के स्वरूप का भी विवेचन किया गया। व्याकरण पढ़ने के प्रयोजन (लाभ; प्रवर्त्तक) भी बतलाये गये।

(अथ शास्त्रनिर्माणरीतिनिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम्। तत्कथं कर्तव्यम्। किं शब्दोपदेशः कर्तव्य, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ?

(प्रदीपः) उभयोपदेश इति। हेयोपादेयोपदेशे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवतीत्युभयोपदेश उद्भावितः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि [4]अनुबन्ध-चतुष्टय बतलाते हुए यह तो समझा

---

१. कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओठ ये स्थान हैं। नासिका भी स्थान ही मानी जाती है।

२. कारण शब्द से आभ्यन्तर प्रयत्नों—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत को समझा जाता है।

३. अनुपदान से नाद आदि बाह्य प्रयत्न समझे जाते हैं।

४. ग्रन्थ का विषय, ग्रन्थ का प्रयोजन, ग्रन्थ का सम्बन्ध और ग्रन्थ का अधिकारी ये चार अनुबन्ध-चतुष्टय कहे गये हैं।

गया कि शब्दानुशासन (व्याकरण का प्रतिपादन) करना चाहिये किन्तु वह प्रतिपादन करना कैसे चाहिए ? क्या साधु शब्द कहे जायँ अथवा असाधु शब्द कहे जायँ अथवा साधु शब्द और असाधु शब्द दोनों कहे जायँ ?

(समाधानभाष्यम्)

अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति॥ अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति॥ एवमिहापि। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्—गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति॥

(प्रदीपः) यद्यपि प्रतिपत्तिः स्पष्टा, गौरवं तु भवतीत्याह—**अन्यतरेति**। शब्दापशब्दयोरित्यर्थः। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते॥ **पञ्चेति**। अर्थित्वाद्भक्षणं प्राप्तं पञ्चसु पञ्चनखेषु नियम्यमानं सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्तते। न त्वयं विधिः, अप्राप्तेरभावात्॥

समाधानकर्ता उक्त प्रश्न का उत्तर देता हुआ कहता है कि दोनों में किसी एक को कहना ही काफी है। जैसे खाने योग्य पदार्थ के विषय में नियम (निर्धारण; फलाँ पदार्थ ही खाने योग्य है) करने से फलाँ पदार्थ ही खाने योग्य नहीं है यह स्वयं मालूम हो जाता है।

'पाँच नखवाले पाँच[1] ही प्राणी खाने योग्य हैं' ऐसा कहने पर इन पाँचों से इतर पाँच नखवाले खाने योग्य नहीं हैं, यह स्वयं ही समझ में आ जाता है।

अथवा न खाने योग्य पदार्थों का निषेध करने से खाने योग्य पदार्थों के विषय में नियम समझ में आ जाता है। जैसे 'गाँव का सूअर अभक्ष्य है; गाँव का मुर्गा अभक्ष्य है' ऐसा कहने से जंगली सूअर और मुर्गा भक्ष्य हैं, यह नियम स्वयं ध्यान में आ जाता है।

उसी प्रकार यहाँ भी यदि साधु शब्दों का उच्चारण किया जाय तो 'गौः' इस साधु शब्द के उच्चारण से ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि ये जो 'गावी, गोणी, गोता' आदि हैं, वे असाधु शब्द हैं। और यदि असाधु शब्दों का ही उच्चारण किया जाय तो 'गावी, गोणी, गोता' आदि असाधु शब्दों के उच्चारण से यह अपने आप ज्ञात होने लगेगा कि 'गौः' यह जो है, वही साधु शब्द है।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरत्र ज्यायः ?॥

(प्रदीपः) **किं पुनरिति**। उभयोपदेशाद् गुरोर्द्वावपि प्रशस्यौ तयोः को ज्यायानित्यर्थः।

---

१. खरहा, साही, खड्गी, कछुआ और गोधा ये पाँच नख वाले पाँच प्राणी माने जाते हैं।

इस पर प्रश्नकर्ता पूछता है कि इन दोनों[1] में किसका प्रतिपादन करना श्रेष्ठ होगा।

(**समाधानभाष्यम्**)

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः।

लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा--गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति॥

(**प्रदीपः**) **इष्टेति।** साधुशब्दप्रयोगाद्धर्मावाप्तेरित्यर्थः। अथवा उपादेयोपदेशात्साक्षाद् प्रतिपत्तिर्भवतीति भावः॥

समाधाता उत्तर देता है कि लाघव के कारण साधु शब्दों का प्रतिपादन करना श्रेष्ठ है। साधु शब्दों का प्रतिपादन करना एक ऐसा कार्य है, जो अतिशय लघु है और असाधु शब्दों का प्रतिपादन करना अतिशय गुरु। क्योंकि एक-एक साधु शब्द के लिए बहुत से अपभ्रंशों की सम्भावना[2] है। जैसे—'गौः' इस एक साधु शब्दों के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त साधु शब्दों का उपदेश करने से जो हमारे लिए इष्ट (अभिलषित साधु शब्द) है, उसका उपदेश हो जाता है।[3]

(**आक्षेपभाष्यम्**)

अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ?॥

आक्षेप करने वाला पुनः पूछता है कि अच्छा, यह मान लिये जाने पर कि इस लघुभूत और इष्टसाधक साधु शब्द का उपदेश करना ही उचित मार्ग है तब क्या साधु शब्दों के ज्ञान के लिए एक-एक पद का पाठ करना होगा ? (क्या) गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि शब्दों को पढ़ना पड़ेगा ?

(**समाधानभाष्यम्**)

नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां। प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः॥ एवं हि श्रूयते--"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम"॥ बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चा-

---

१. साधु 'शब्दों' का उपदेश और असाधु शब्दों का उपदेश करने में।

२. इससे यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् पतञ्जलि के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी। वह उस समय के एकमात्र शिक्षित एवं सभ्य जनों के व्यवहार की भाषा रह गई थी, जिसमें साहित्य का निर्माण हो चुका था और हो भी रहा था। बोलचाल के लिए और धीरे-धीरे साहित्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्राकृत आदि का प्रचार बढ़ चला था।

३. 'इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति' इसका एक अर्थ यह भी किया जाता है कि साधु शब्दों का प्रतिविधान करना हमारे लिए इष्टजनक (धर्मजनक) भी होता है।

ध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो, न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति---आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ॥

(प्रदीपः) बृहस्पतिरिन्द्रायेति। प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वं प्रतिपादयितुमयमर्थवादः॥ **शब्दानामिति**। शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य, तत्र प्रतिपदोक्तानामिति विशेषणाभिधानाय गम्यमानार्थस्यापि शब्दानामित्यस्य प्रयोगः॥ एकदेशोपयोगादपि लोके उपयुक्तमित्युच्यते, यथौषधसंस्कृतघृतमात्रैकदेशोपयोगे उपयुक्तं घृतमिति व्यवहारः, तथेह नेति प्रतिपादयति–**चतुर्भिरिति**। **आगमकालो** ग्रहणकालः। **स्वाध्यायकालो**ऽभ्यासकालः। **प्रवचनकालो**ऽध्यापनकालः। **व्यवहारो** याज्ञे कर्मणि॥

उक्त आक्षेप का समाधान करता हुआ तटस्थ कहता है कि सिद्धान्ती का यह कथन है कि साधु शब्दों के ज्ञान के लिए एक-एक पद का पाठ नहीं करना होगा। क्योंकि साधु शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक पद का पाठ करना, यह कोई समुचित उपाय[1] नहीं है।

क्योंकि ऐसी श्रुति है कि बृहस्पति[2] ने इन्द्र के उद्देश्य से देवों के एक हजारों वर्ष तक प्रत्येक शब्द का उच्चारण करके अपना शब्दपारायण[3] (शब्दशास्त्र) पढ़ाया, किन्तु शब्दों की समाप्ति नहीं हुई। बृहस्पति (जो कि स्वयं सभी विद्याओं के पारंगत विद्वान् थे) जैसा शास्त्र का वक्ता इन्द्र (जो कि पाँच लोकपालों और दस दिक्पालों की शक्ति और साधनों से सम्पन्न एवं विज्ञ थे) जैसा विद्यार्थी और देवताओं का एक सहस्र वर्ष पढ़ने का समय (ये सभी बातें थीं तो भी) शब्दों के अन्त तक वे (बृहस्पति) पहुँच नहीं पाये। आजकल की कौन-सी बात कही जाय! जो सब प्रकार से नीरोग रहकर चिरकाल तक जीता है। वह (अधिक से अधिक) सौ वर्ष तक जीता है।

ज्ञान का साधन जो विद्या है, वह चार प्रकारों (विशेष धर्मों) से सफल[4] होती है—आचार्य से पढ़ते समय, स्वयं मनन करते समय, छात्रों को पढ़ाते समय और व्यवहार करते समय अर्थात् यज्ञ आदि के समय। उन चारों समयों से अध्ययन आदि की उपयोगिता सिद्ध होने पर यहाँ अध्ययनकर्ता की समूची आयु

---

१. शब्द अनन्त हैं। प्रत्येक शब्द का पाठ करने से उन अनन्त शब्दों का पार पाना संभव नहीं। अतः जिसे सभी शब्दों का ज्ञान अभिप्रेत है, उसके लिए यह प्रतिपद पाठ करना समुचित उपाय नहीं है।

२. कैयट ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक पद का पाठ करके शब्दों का अन्त पाना असंभव है, इस बात को सिद्ध करनेवाला यह अर्थवाद-वचन है।

३. विद्वानों का ऐसा विचार है कि बृहस्पति के उस शब्दशास्त्र का नाम 'शब्दपारायण' था।

४. अर्थात् विद्या के उपयोग के आधारभूत समय चार हैं, जिनसे (जिन कालों से) विद्या सफल समझी जाती है।

तो आचार्य से विद्याध्ययन के समय में ही समाप्त हो जायगी इस हेतु साधु शब्दों के ज्ञान लिए प्रत्येक पद का पाठ करना, यह कोई समुचित उपाय नहीं है।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? ॥

इस पर प्रश्न होता है कि तब जिन साधु शब्दों का ज्ञान होना प्रत्येक पद के पाठ करने पर भी कठिन है, उनका ज्ञान किया कैसे जाय ?[1]

(समाधानभाष्यम्)

किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् ॥

किं पुनस्तत् ?।

उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः।

(प्रदीपः) **किंचिदिति**। सामान्यविशेषौ यस्मिंस्तत्सामान्यविशेषवत्। **कर्मण्यण्**, **आतोऽनुपसर्गे क** इत्यादि।

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि कुछ सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त ऐसे सूत्र बनाये जायँ, जिनसे थोड़े प्रयास में ही बड़े-बड़े शब्दसमूह (विशाल से भी विशाल शब्दों के समुदाय) जाने जा सकें।

प्रश्न—सूत्रों के उन सामान्य और विशेष धर्मों का स्वरूप क्या हो ?

उत्तर—सामान्य नियम और अपवाद। कुछ सामान्य नियम बनाये जायँ और कुछ उनके अपवाद।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथाजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः, कथजातीयकोऽपवादः ? ॥

अब प्रश्न होता है कि सामान्य नियम किस प्रकार के बनाये जायँ और अपवाद किस प्रकार के ?

(समाधानभाष्यम्)

सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा—"कर्मण्यण्"। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—"आतोऽनुपसर्गे कः"॥

उत्तर देनेवाला कहता है कि इस प्रकार के सामान्य नियम बनाये जायँ जो अधिक स्थानों में व्याप्त हो सकें। जैसे—कर्मण्यण् (३.२.११) अर्थात् उपपद[2] संज्ञावाले कर्म[3] से युक्त धातु के आगे कर्ता अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है।[4]

१. पूछनेवाले का आशय यह है कि शब्दों का स्वरूपतः उपदेश करने पर भी ज्ञान करना अथवा उनकी इयत्ता का परिगणन करना अशक्य है। ऐसी स्थिति में शास्त्र द्वारा उनका बोध अथवा अनुगम किया कैसे जा सकता है ?

२. उपपद संज्ञा की जानकारी के लिए देखें 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (३. १. ९२)।

३. कर्मसंज्ञा के ज्ञान के लिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१.४.४९) और उसी का प्रकरण देखना आवश्यक है।

४. इस सामान्य नियम द्वारा कुम्भ, माला, अयस्, सुवर्ण आदि कर्मों को उपपद करके

उस सामान्य नियम के विशेष-विशेष स्थलों में अपवाद कहे जायँ। जैसे—'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) अर्थात् उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, यदि धातु उपपद संज्ञावाले कर्म से युक्त हो।[1]

(जातिव्यक्तिपदार्थनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनराकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम् ? ॥

(समाधानभाष्यम्)

उभयमित्याह ॥

कथं ज्ञायते ?।

उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा—"जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा "सरूपाणाम्—" इत्येकशेष आरभ्यते ॥

(प्रदीपः) सकलशास्त्रव्यवस्थैकतरपक्षाश्रयणे न सिध्यतीति पक्षद्वयाश्रयणं प्रश्नपूर्वकं करोति–**किं पुनरिति**। आकृतिपक्षे केवल आश्रीयमाणे **सकृद्गतौ विप्रतिषेध** इत्यादि नापपद्यते, केवलेऽपि व्यक्तिपक्षे **पुनः प्रसङ्गविज्ञाना**दित्यादि न घटते। तस्माल्लक्ष्यसिद्धये क्वचित्प्रदेशे कश्चित्पक्षः परिगृह्यते। तत्र जातिवादिन आहुः—जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते, व्यक्तीनामानन्त्यात्सबन्धग्रहणासम्भवात्। सा च जातिः सर्वव्यक्तिष्वेकाकारप्रत्ययदर्शनादस्तीत्यवसीयते। तत्र गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतां जातिमभिदधति। तस्यां प्रतीतायां तदावेशात्तदवच्छिन्नं द्रव्यं प्रतीयते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तु तत्सम्बन्धात्प्रत्ययः, द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात्। संज्ञाशब्दानामप्युत्पत्तिप्रभृत्याविनाशात् पिण्डस्य कौमारयौवनाद्यवस्थाभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययनिमित्ता डित्थत्वादिका जातिर्वाच्या। क्रियास्वपि जातिर्विद्यते सैव धातुवाच्या। पठति पठतः पठन्तीत्यादेरभिन्नस्य प्रत्ययस्य सद्भावत्तन्निमित्तजात्यभ्युपगमः॥ व्यक्तिवादिनस्त्वाहुः–शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या, जातेस्तूपलक्षणभावेनाश्रयणादानन्त्यादिदोषानवकाशः॥

(उत्सर्ग और अपवादस्वरूप सूत्रों के घटक पदों के अर्थ का विचार)

अब प्रश्न यह होता है कि सूत्रों के घटक जो पद हैं उनका अर्थ आकृति (जाति) है अथवा द्रव्य (व्यक्ति) ?

तटस्थ उत्तर देता है कि जाति और व्यक्ति दोनों हैं, ऐसा सिद्धान्ती[2] का कहना है ?

अकेले 'कृ' धातु से अण् प्रत्यय द्वारा अनन्त साधु शब्द निष्पन्न किये जा सकते हैं—कुम्भकारः, मालाकारः, अयस्कारः, सुवर्णकारः आदि।

१. जहाँ धातु उपसर्गरहित होगा, वहाँ उस धातु के गो, धन, कम्बल आदि कर्मों के उपपद रहने पर 'क' प्रत्यय करने से गोदः, धनदः, कम्बलदः आदि अनन्त रूप बन जायँगे। यह अपवाद का काम हुआ।

२. आशय यह है कि लक्ष्य के अनुरोध से भगवान् पाणिनि ने कहीं के लिए तो जाति के वाचक पदों को और कहीं के लिए व्यक्ति के वाचक पदों को मान कर अष्टाध्यायी की रचना की है। अतः उत्सर्ग और अपवाद के घटक पदों का अर्थ कहीं तो जाति रहती है और कहीं व्यक्ति।

प्रश्न—ऐसा समझने का निमित्त क्या है ?

निमित्त है आचार्य पाणिनि द्वारा बनाये गये दोनों प्रकार के सूत्र।

पद का अर्थ जाति को मान कर आचार्य ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१.२.५८) इस सूत्र को बनाया है। एवं पद का अर्थ व्यक्ति को मान कर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१.२.६४) इस सूत्र की रचना कर एक शेष का आरम्भ किया है।[1]

(शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचारभाष्यम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः ? ॥

(प्रदीपः) किं पुनरिति। विप्रतिपत्त्या संशयः। केचिद्ध्वनिव्यङ्ग्यं वर्णात्मकं नित्यं शब्दमाहुः। अन्ये वर्णव्यतिरिक्तं पदस्फोटमिच्छन्ति। वाक्यस्फोटमपरे संगिरन्ते। अन्ये तु ध्वनिरेव शब्दः स च कार्यस्तद् व्यतिरेकेणान्यस्यानुपलम्भादित्याचक्षते ॥

अब प्रश्न यह होता है कि शब्द नित्य हैं अथवा उत्पाद्य ?

(समाधानभाष्यम्)

संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति ॥

(प्रदीपः) संग्रह इति। ग्रन्थविशेषे।

---

१. आचार्य को जाति और व्यक्ति दोनों अर्थ स्वीकृत हैं। जहाँ जाति की प्रधानता मानने से वक्ता का तात्पर्य अभीष्ट साधु शब्द की प्रतिपत्ति होती हो, वहाँ के लिए जाति को और जहाँ व्यक्ति की प्रधानता लेने से वक्ता का तात्पर्य और अभीष्ट साधु शब्द की प्रतिपत्ति होती हो वहाँ के लिए व्यक्ति को पद का अर्थ मानना चाहिए। जाति पद को मानने वालों का कहना है कि शब्द जाति अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। क्योंकि व्यक्ति के अनन्त होने से उन अनन्त व्यक्तियों में शक्ति का ज्ञान असम्भव रहेगा। सब व्यक्तियों में एकाकारवाली जाति का ज्ञान देखा जाता है, यही जाति की सत्ता में प्रमाण है। गो आदि शब्द अलग-तलग व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान जाति का ही कथन करते हैं। शब्द से जब जाति का ज्ञान हो चुकता है, तब उस जाति से अविच्छिन्न व्यक्ति भी शब्द के द्वारा बोधित हो जाती है। इसी प्रकार शुक्ल आदि शब्द शुक्ल आदि गुणों में समवेत जाति का ही कथन करते हैं। शुक्लत्व आदि जाति का सम्बन्ध उस शुक्ल आदि गुण से होने के कारण शुक्ल गुण का शुक्ल शब्द से ज्ञान हो जाता है। शुक्लत्व जाति समवाय सम्बन्ध से पटरूप द्रव्य में रहता है। इस परम्परा से 'शुक्लः पटः' में शुक्ल शब्द से वस्त्र भी समझ लिया जाता है। डित्थ आदि संज्ञा शब्दों में जन्म से देकर विनाश तक शरीर में जो कुमार, यौवन आदि अवस्थाओं द्वारा भेद है उन भेदों के होने पर भी 'यह वही डित्थ है' यह अभेद ज्ञान होने से उसमें डित्थत्व जाति मानी जाती है। वह जाति ही वहाँ डित्थ शब्द का वाच्यार्थ मानी जाती है। इसी प्रकार क्रियाओं मे भी जाति है। वही जाति धातु का वाच्य अर्थ है। पठति पठतः पठन्ति इन पदों में सर्वत्र 'पठनत्व' जाति अभिन्न रूप से समझी जाती है।

समाधानकर्ता उत्तर देता है कि (आचार्य व्याडि[1] द्वारा विरचित) 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में मुख्य रूप से इस बात की विवेचना की गई है कि 'शब्द नित्य है अथवा उत्पादनयोग्य ।' उस ग्रन्थ में (नित्य अथवा उत्पाद्य मानने में) दोष भी कहे गये हैं और प्रयोजन भी । (अन्ततः वहीं) यह निर्णय दिया गया है कि यदि शब्द नित्य हैं तो कार्य (उत्पाद्य) भी हैं। दोनों प्रकारों से[2] यह शब्द शास्त्र लिखा जाना चाहिए ।

(नित्यशब्दवादेऽपि शास्त्रस्य धर्मजनकताधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्—

अब प्रश्न यह होता है कि यह जो भगवान् आचार्य पाणिनि का शब्दशास्त्र है सो कैसे (शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानकर) लिखा गया है ?

(१ आक्षेपसाधकवार्तिकप्रथमखण्डम् ।। १ ।।

।। * ।। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे[3] ।। * ।।

(व्याख्याभाष्यम्)

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।।

(प्रदीपः) कथं पुनरिति । किमाचार्य एव स्रष्टा शब्दार्थसम्बन्धानाम्, अथ स्मर्तेति प्रश्नः ।। **सिद्ध इति** । तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा । कार्यशाब्दिकानामपि मते प्रवाहनित्यतया । अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम् । द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता प्रवाहनित्यतया वा । सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयानादित्वान्नित्यता ।।

वार्तिक का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि शब्द, (शब्दों के) अर्थ और (उनके परस्पर) सम्बन्ध के सिद्ध (नित्य) रहने पर (भगवान् पाणिनि का शास्त्र) लिखा गया है ।

---

१. आचार्य व्याडि भगवान् पाणिनि के समकालिक आचार्य और सम्बन्ध में उनके मामा थे। उन्होंने 'संग्रह' नाम से व्याकरण पर एक दार्शनिक ग्रन्थ लिखा था। जो वाक्यपदीय के ढंग का था और जो संख्या में महाभारत के समान एक लाख श्लोकों वाला था। उद्योत में नागेश भट्ट का कहना है कि 'संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः ।' कहा जाता है कि चौदह हजार पदार्थों की 'संग्रह' ग्रन्थ में परीक्षा की गई थी। चान्द्रव्याकरण की वृत्ति (४.१.६२.) में 'पञ्चकः संग्रहः' एक उदाहरण 'अष्टकं पाणिनीयम्' के समान आया है। इससे यह अन्दाज लगाया जाता है कि संग्रह में पाँच अध्याय थे। भगवान् पतञ्जलि के अनुसार व्याडि द्रव्यपदार्थवादी थे। 'द्रव्याभिधानं व्याडिः' ।

२. शब्दों की अनित्यता मानने पर तो व्याकरण का लिखा जाना आवश्यक है ही नित्यता पक्ष में भी व्याकरण आवश्यक है। क्योंकि उसके (व्याकरण के) अभाव में भूल से लोग अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग करने लग जायँ तो भाषा अपने स्वरूप को ही खो बैठे।

३. वार्तिकार्थ—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध रहने पर ।

(वार्तिकघटकसिद्धशब्दार्थनिरूपणभाष्यम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ? ॥

(प्रदीपः) सिद्धशब्दस्य नित्यानित्ययोर्दर्शनात्पृच्छति—**अथेति** ॥

अब प्रश्न होता है कि अच्छा; यहाँ (वार्तिक में) सिद्ध शब्द का अर्थ क्या है ?

(समाधानभाष्यम्)

नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः ॥ कथं ज्ञायते ? ॥ यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा–सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति ॥

(प्रदीपः) नित्येति । नित्यलक्षणस्यार्थस्य पर्यायेग वाचकस्तमेवार्थं कदाचिन्नित्यशब्द आह कदाचित्सिद्धशब्द इत्यर्थः ॥ **कूटस्थेष्विति** । अविनाशिषु **अविचालिष्विति** । देशान्तरप्राप्तिरहितेषु ॥

समाधाता उत्तर देता है कि 'नित्य' रूप अर्थ का पर्याय[1] से 'सिद्ध' शब्द वाचक है ।

प्रश्न—यह कैसे जान पड़ता है[2] ?

उत्तर—क्योंकि यह सिद्ध शब्द लोहार की निहाई के समान नष्ट न होने वाले और अविचाली (टस से मस न होने वाले) पदार्थों के बारे में प्रयुक्त होता है ।

उदाहरणार्थ (लोक के इन प्रयोगों को ले सकते हैं) स्वर्ग सिद्ध[3] है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति । यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति ? ॥

(प्रदीपः) ननु चेति । सिद्धशब्दात्क्रियानिष्पन्नोऽप्यर्थोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥

आक्षेपकर्ता कहता है—किन्तु श्रीमानजी, [4]कार्य अर्थात् क्रियाओं द्वारा निष्पन्न अर्थों में भी तो सिद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है । जैसे—भात बन चुका, दाल बन चुकी, यवागू (एक प्रकार की तरल खाद्य वस्तु) बन चुकी। इसलिए कार्य अर्थात् 'क्रियाओं द्वारा निष्पन्न' इस अर्थ में यदि सिद्ध शब्द का व्यवहार पाया

---

१. उसी अर्थ (नित्य स्वरूप अर्थ) को कभी तो नित्य शब्द करता है और कभी सिद्ध शब्द ।

२. यह कैसे जान पड़ता है कि नित्य शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ सिद्ध से भी बोधित होता है ।

३. सिद्ध है अर्थात नित्य है ।

४. यहाँ 'अनित्येषु' न कह कर 'कार्येषु' इस कथन का तात्पर्य है क्रिया द्वारा निष्पत्ति के कारण जो अनित्यता समझी जाती है उसी अनित्यता अर्थ में सिद्ध शब्द का व्यवहार है इसका बोधन ।

जाता है, तब नित्य शब्द के ही पर्याय रूप में सिद्ध शब्द का ग्रहण क्यों माना जाय ? कार्य अर्थ में जो सिद्ध शब्द है, उसी का ग्रहण क्यों न माना जाय ?

(**समाधानभाष्यम्**)

संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति । इहापि तदेव ॥

(**प्रदीपः**) **संग्रहे तावदिति** । तत्र हि 'किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्धः' इति पक्षद्वयविचारः कृतः । तत्र कार्यप्रतिपक्षार्थाभिधायी सामर्थ्यात्सिद्धशब्द इति स्थितम् । तत्समानतन्त्रत्वादिहापि तथैव युक्तमित्यर्थः ॥

समाधान करने वाला उत्तर देता है कि (आचार्य व्याडिकृत) संग्रह-ग्रन्थ में 'कार्य' अर्थ से विपरीत अर्थ के बोधन के लिए 'सिद्ध' शब्द के प्रयुक्त होने के[1] कारण हम ऐसा मानते हैं कि वहाँ 'नित्य' के अर्थ में ही 'सिद्ध' शब्द का ग्रहण किया गया है। ('संग्रह' ग्रन्थ के समान ही यह भी शब्दानुशासन शास्त्र है), अतः यहाँ भी (प्रकृत वार्तिक में भी) नित्य के अर्थ में ही सिद्ध का ग्रहण उचित है।

(**समाधानान्तरभाष्यम्**)

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि । तद्यथा—अब्भक्षो वायुभक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते । एवमिहापि सिद्ध एव, न साध्य इति ॥

(**प्रदीपः**) **अथवेति** । एवशब्दप्रयोगे द्विपदमवधारणं, द्योतकत्वेनैव शब्दस्यापेक्षणात् । यदा तु द्योतकमन्तरेण सामर्थ्यादवधारणं गम्यते तदा तदेकपदमित्युच्यते । तत्र सर्वं एवापो भक्षयन्तीत्यब्भक्षश्रुतिः सामर्थ्यान्नियममवगमयत्यप एव भक्षयन्तीति । इहापि नित्यानित्यव्यतिरेकेण राश्यन्तराभावात्सिद्धशब्दोपादानान्नियमोऽवगम्यते सिद्ध एवेति । कार्याणां तु पदार्थानां प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरपि सत्वात् सिद्धता नास्तीति न ते सिद्धा एव ॥

समाधानान्तर उपस्थित करते हुए कहते हैं कि अथवा कहीं कहीं केवल एक[2] ही पद के रखने पर भी निश्चय अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जैसे—'अब्भक्षः वायुभक्षः' कहने पर 'दूसरा कुछ न खा पीकर केवल पानी ही पीता है केवल वायु ही का भक्षण करता है' इन अर्थों का बोध होता है। उसी प्रकार यहाँ (वार्तिक में) भी सिद्ध शब्द से जो सदा सिद्ध ही है साध्य[3] नहीं, इस अर्थ का बोध होगा।

---

१. संग्रह ग्रन्थ में इन दो पक्षों पर विचार किया गया है कि 'शब्द कार्य है कि सिद्ध' उस वाक्य में सिद्ध शब्द सामर्थ्यवश कार्य (क्रियानिष्पन्न) अर्थ के प्रतिपक्ष अर्थ (नित्य) का अभिधान करने वाला है।

२. 'एव' शब्द के प्रयोग करने पर निश्चय अर्थ की जो अवगति होती है उसमें दो पद हो जाते हैं क्योंकि एव के द्योतक होने से एक शब्दान्तर की अपेक्षा अवश्य ही हो जाती है। जब कि द्योतक के बिना भी सामर्थ्यवश अवधारण (निश्चय) अर्थ का बोध किया जाता है तब वह एक पद वाला होता है।

३. जो साध्य अर्थात् क्रिया द्वारा निष्पत्ति के योग्य होता है उसमें नित्यता नहीं होती है। कारण कि उसका पूर्व में भी अभाव होता है और उत्पत्ति के बाद भी उसका विनाश निश्चित रहता है।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति यद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

(प्रदीपः) अथवेति । कथं पुनर्देवदत्तशब्दे संज्ञात्वेन विनियुक्ते एकदेशः प्रयुज्यते । न ह्यसौ संज्ञात्वेन विनियुक्तः । न चैकदेशात्स्मर्यमाणस्य समुदायस्य वाचकत्वमुपपद्यते । प्रतीयमानस्य प्रत्यायकत्वासम्भवादुच्चार्यमाणस्यैव वाचकत्वात् । एवं तर्ह्यनुनिष्पादिन्योऽवयवसरूपाः संज्ञा विनियोगकाले विनियुक्ता एव । लोपस्तु वर्णानां साधुत्वं मा भूदित्यन्वाख्यायते । इहापि नित्यानित्ययोर्निष्पन्नत्वाविशेषात्सिद्धश्रुतिरुपात्ता प्रकर्षं गमयति—अत्यन्तसिद्ध इति ।

तीसरा समाधान करते हुए कहते हैं कि अथवा 'सिद्धे' इस पद में पूर्वपद (अत्यन्त) का लोप समझना चाहिए । यहाँ अत्यन्त सिद्ध शब्द है, जिसके पूर्वपद का लोप करके 'सिद्धे' बना है । उदाहरणार्थ देवदत्त के बदले 'दत्त' कहते हैं और 'भामा' से 'सत्यभामा' का बोध होता[1] है ।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ॥

(प्रदीप) न्यायाद्वा नित्यत्वं शब्दादीनां स्थितमित्याह—अथवेति । नहि संदेहमात्रादलक्षणता भवति, पुनः प्रमाणान्तरेण निश्चयोत्पादात् ॥

चौथा समाधान देते हुए कहते हैं कि अथवा 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' (अर्थात् अर्थ करते समय 'अमुक अर्थ लिया जाय कि अमुक अर्थ' इस प्रकार के तात्पर्य-सन्देह उपस्थित होने पर अचार्यों द्वारा किये गये विशेष अर्थ के बोधन कराने वाले विवरणों से अर्थ का निश्चय किया जाता है । सन्देह उपस्थित है इसलिए शास्त्र का त्याग नहीं किया जाता ।) इस परिभाषा से हम यहाँ यह विवरण करेंगे; कि नित्य शब्द के अर्थ में ही सिद्ध शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[2]

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरनेन वर्ण्येन । किं न महता कष्टेन नित्यशब्द एवोपात्तः यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् ? ॥

(प्रदीपः) वर्ण्येनेति । प्रयत्नव्याख्यातव्येनेत्यर्थः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि किन्तु वार्तिककार ने इतने आयाससाध्य विवरण के योग्य सिद्ध शब्द का प्रयोग क्यों किया ? स्पष्ट रूप से नित्य शब्द का ही क्यों नहीं प्रयोग किया ? यदि नित्य शब्द का ही प्रयोग किया होता तो किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रह जाता ।

---

१. इसी प्रकार इस वार्तिक में भी सिद्ध से अत्यन्त सिद्ध का बोध होता है ।

२. संग्रह आदि ग्रन्थों में वृद्धों के व्यवहार से ही पदों, अर्थों और उनके सम्बन्धों की नित्यता मानी गई है अतः विशिष्ट विवरण रूप व्याख्यानों से सिद्ध शब्द से वह नित्य अर्थ ही गृहीत होता है ।

(समाधानभाष्यम्)

मङ्गलार्थम्[1] ॥

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति ॥

(प्रदीपः) माङ्गलिक इति। अगर्हिताभीष्टार्थसिद्धिर्मङ्गलं तत्प्रयोजन आचार्यो माङ्गलिकः ॥ **प्रथन्त इति**। अध्ययनस्याविच्छेदात् ॥ **वीरपुरुषाणीति**। श्रोतॄणां परैरपराजयात् ॥ **आयुष्मत्पुरुषाणीति**। शास्त्रानुष्ठाने धर्मोपचयादायुर्वर्धनात् ॥ **सिद्धार्था इति**। अध्ययननिर्वृत्तिरेव तेषां सिद्धिः ॥

समाधाता उत्तर देता है कि (सिद्ध शब्द का प्रयोग) मङ्गलरूप प्रयोजन के लिए है। मङ्गल के लिए उत्सुक आचार्य (वार्तिककार अपने इस) महान् वार्तिक समुदाय रूप शास्त्र के प्रारम्भ में अभीष्ट अर्थ के सिद्धि रूप मङ्गल के लिए सिद्ध शब्द का प्रयोग करते हैं। जिन शास्त्रों का प्रारम्भ मङ्गल करके किया जाता है वे प्रसिद्ध होते हैं। उनके अध्ययन करने वाले वीर होते हैं, दीर्घायु होते हैं। उनके पढ़ने वाले छात्रों के कुछ मनोरथ पूरे होते हैं।

(समाधानभाष्यशेषभाष्यम्)

अयं खलु[2] नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते ॥

किं तर्हि ? ॥ आभीक्ष्ण्येपि वर्तते तद्यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति। यावताभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात्— "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ॥

(प्रदीपः) नावश्यमिति। ततश्चाभीक्ष्ण्येन ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते आगोपालाङ्गनं तेषामेवान्वाख्यानं स्याद् न विरलप्रयोगाणाम्। विनापि च क्रियापदप्रयोगेणाभीक्ष्ण्यवृत्तिर्नित्यशब्दः प्रयुज्यते। यथा **आश्चर्यमनित्ये नित्यवीप्सयोरिति** ॥

और यह जो कहा जाता है कि वार्तिककार ने स्पष्ट रूप से नित्य शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया, सो उनके वैसा करने पर भी काम नहीं चलता क्योंकि ऐसी बात नहीं कि नित्य शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं अर्थों के विषय में होता है जो कि (लोहार की निहाई के समान) नष्ट न होने वाले और अविचाली (टस से मस न होने वाले) होते हैं।

प्रश्न—(यदि ऐसी बात नहीं है) तब किन अर्थों के विषय में होता है ?

---

१. कहीं कहीं 'मङ्गलार्थं च' यह पाठ मिलता है। च शब्द से नित्यता का भी बोधन कर लिया जाता है। फलतः सिद्ध शब्द स्वरूपतः तो मङ्गल रूप प्रयोजन के लिए है और अर्थतः नित्यता के बोधन के लिए यह प्रकट हो जाता है।

२. कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में 'खल्वपि' यह पाठ है।

उत्तर—'बहुत अधिक' या 'बहुतायत से' इस अर्थ में भी नित्य शब्द का प्रयोग होता है।

जैसे—'नित्य प्रहसितः' से बहुत अधिक हँसनेवाला और 'नित्य प्रजल्पितः' से बहुत अधिक बड़बड़ाने वाला ये अर्थ समझे जाते हैं।

चूँकि 'बहुत अधिक' या 'बहुतायत से' इस अर्थ में भी नित्य शब्द का प्रयोग है अतः नित्य शब्द के अर्थ के निश्चय करने में भी इसी परिभाषा से अभिमत अर्थ की सिद्धि होगी कि "अर्थ करते समय अमुक अर्थ लिया जाय कि अमुक अर्थ—इस प्रकार के तात्पर्य के सन्देह उपस्थित होने पर आचार्यों द्वारा किये गये विशेष अर्थ के बोधन करानेवाले विवरणों से अर्थ का निश्चय किया जाता है। संदेह उपस्थित है, इसलिए शास्त्र का त्याग नहीं किया जाता।"

क्योंकि आचार्य (वार्तिककार) ने यह विचार किया कि यदि सिद्ध शब्द ही शास्त्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त हो तब उससे मङ्गलरूप प्रयोजन भी पूरा हो जायेगा और बाद में हम विवरण द्वारा यह भी बतला सकेंगे कि उस सिद्ध शब्द का अर्थ वही है जो नित्य शब्द का अर्थ माना जाता है।

(नित्यतासाधकपक्षनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ? ॥

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अच्छा, (जाति अथवा व्यक्ति इन दोनों पक्षों में) किसे पद का अर्थ मान कर 'शब्द, अर्थ और (दोनों के) सम्बन्ध के सिद्ध अर्थात् नित्य रहने पर' ऐसा विग्रह किया गया है ?

(समाधानभाष्यम्)

आकृतिमित्याह ॥ कुत एतत् ? ॥

आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् ॥

ऊपर के प्रश्न का तटस्थ यों उत्तर देता है—सिद्धान्ती का कहना है कि आकृति अर्थात् जाति को (पदार्थ मान कर ऊपर वाला विग्रह किया गया है।)

प्रश्न—ऐसा क्यों ?[1]

उत्तर—क्योंकि आकृति अर्थात् जाति जो है वह तो नित्य रहती है, किन्तु द्रव्य अर्थात् व्यक्ति अनित्य होती है।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः ? ॥

अब प्रश्न यह होता है कि अच्छा द्रव्य अर्थात् व्यक्ति को पद का अर्थ मानने पर कैसा विग्रह करना होगा ?

---

१. प्रश्नकर्ता को यह जिज्ञासा है कि ऐसा क्या कारण है कि जाति पक्ष में तो यह विग्रह किया जाता है और व्यक्ति पक्ष में नहीं।

(समाधानभाष्यम्)

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ॥

(प्रदीपः) अर्थसम्बन्धे चेति। द्रव्यपक्षे द्रव्यस्यानित्यत्वादर्थग्रहणं सम्बन्धविशेषणार्थमुपात्तम् ॥ अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्, योग्यतालक्षणत्वात्सम्बन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वाच्छब्दस्य च नित्यत्वाददोषः ॥

उत्तर देने वाला कहता है कि 'शब्द के एवं अर्थ के साथ शब्द का जो सम्बन्ध है उसके (अर्थ सम्बन्ध के) नित्य रहने पर' (यह विग्रह करना होगा) क्योंकि अर्थवालों अर्थात् शब्दों का अर्थों के साथ (शक्ति इस नाम से प्रसिद्ध) सम्बन्ध नित्य होता है।

(द्रव्यपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्याकृतिरनित्या ॥

कथं ज्ञायते ?

एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवणपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ॥

(प्रदीपः) द्रव्यं हि नित्यमिति। असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यमित्यर्थः ॥ **आकृतिरिति।** संस्थानम्। ब्रह्मदर्शने च गोत्वादिजातेरप्यसत्यत्वादनित्यत्वम्, **'आत्मैवेदं सर्वम्'** इति श्रुतिवचनात् ॥

समाधाता 'पदार्थ द्रव्य है' इस पक्ष को स्वीकार कर उत्तर देता है कि अथवा पद का अर्थ द्रव्य है ऐसा मान लेने पर भी यह ऊपर वाला विग्रह उचित ही है कि 'शब्द, अर्थ और (दोनों के) संबन्ध के सिद्ध अर्थात् नित्य रहने पर।' क्योंकि वस्तुतः द्रव्य अर्थात् असत्य उपाधियों से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही (जो कि कम्बु ग्रीवा आदि वाले आकार अथवा उन आकारों से व्यङ्ग्य जातिरूप[1] असत्य उपाधियों द्वारा पृथक्-पृथक् अवस्थित है, नित्य है। और आकृतियाँ (आकार) अनित्य हैं।

प्रश्न—किन्तु यह जाना कैसे जाता है कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य ?

क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है कि मिट्टी ही जब एक विशेष रूप को पा लेती है तब उससे पिण्ड अर्थात् लोंदा (गोला) बनता है उस मिट्टी के लोंदे

---

१. दृष्टि सृष्टिवादी वेदान्तियों के मत में ब्रह्म का विवर्तभाव होने से गोत्व आदि जातियाँ भी अनित्य मानी गई है। क्योंकि 'आत्मैवेदं सर्वम्' यह श्रुति बतलाती है कि यह जो दिखलाई देने वाला जगत है सो ब्रह्म ही है और कुछ नहीं। इस वचन से गोत्व भी असत्य सिद्ध होता है।

के रूप को तोड़कर ही छोटी-छोटी ठिलियाँ (कलसियाँ) बनाई जाती हैं। ठिलियों के आकार को नष्ट करके ही कुंडे बनाये जाते हैं।

वैसे ही सोना जब एक विशेष रूप को पा लेता है, तब उससे गोला बनता है; गोले के आकार को विगाड़ कर ही रुचक[1] बनाये जाते हैं; रुचक के आकार को नष्ट करके ही कड़े बनाये जाते हैं; कड़ों के आकार को नष्ट कर ही स्वस्तिक (स्वस्तिक के आकार के सुवर्ण के आभूषण) बनते हैं। स्वस्तिक के आकार को तोड़कर और कूट पीट कर पुनः उस सोने से गोला तैयार कर लिया जाता है। तब पुनः वही गोला एक दूसरी ही आकृति से युक्त होकर खैर के रंग जैसे अग्नि के अङ्गार के समान कुण्डल का जोड़ा बनता है। इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि आकृति अलग-अलग होती है; किन्तु (मिट्टी और सोना रूपी) द्रव्य प्रत्येक आकृति में वही रहता है। आकृति के नाश कर देने पर द्रव्य ही बचा रहता है।

(आकृतिपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति ॥

अब 'पदार्थ आकृति है' इस पक्ष को मानकर उत्तर देते हैं कि पद का अर्थ आकृति मान लेने पर भी 'शब्द, अर्थ और (दोनों के) संबन्धों के सिद्ध अर्थात् नित्य रहने पर' यह विग्रह उचित ही है।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्या इति ॥

पिछले आक्षेप का स्मरण दिलाने वाला कहता है कि यह तो ठीक है किन्तु पहले यह जो कहा ज़ा चुका है कि आकृति अनित्य है।

(समाधानभाष्यम्)

नैतदस्ति। नित्याऽऽकृतिः ॥ कथम् ? ॥

न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ॥

(प्रदीपः) न क्वचिदुपरतेति। अनभिव्यक्तेत्यर्थः। अद्वैतेन लोके व्यवहाराभावाद् व्यवहारे चाकृतेरेकाकारपरामर्शहेतुत्वान्नित्यत्वम् ॥

समाधानकर्ता कहता है कि यह बात नहीं है (कि आकृति अनित्य होती है), आकृति नित्य है।

प्रश्न—कैसे (आकृति नित्य) है ?

उत्तर—कहीं पर कोई आकृति अभिव्यक्त (स्पष्ट रूप से प्रतीत) नहीं हुई तो इसीलिए सभी स्थानों पर वह अभिव्यक्त नहीं होती ऐसी कोई बात नहीं है। दूसरे[2] द्रव्यों (पदार्थों) में तो वह आकृति उपलब्ध होती ही है।

---

१. सम्भवतः ताबीज के आकार का घोड़ों के गले का एक अलङ्कार।

२. जिस घट अथवा पट व्यक्ति का विनाश हो चुका है उस विनष्ट घट अथवा पट

(समाधानसाधकनित्यलक्षणभाष्यम्)

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत्तन्नित्यमिति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ॥

किं पुनस्तत्त्वम् ? ॥

तस्य भावस्तत्त्वम् ॥ आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ॥

(प्रदीपः) अथवेति। असत्यत्वेऽपि तत्त्वतो लोकव्यवहाराश्रयणेन जातेर्नित्यत्वं साध्यते। त्रिविधा चानित्यता, **संसर्गानित्यता** यथा—स्फटिकस्य लाक्षाद्युपधाने स्वरूप-तिरोधानेन पररूपभासः उपधानापगमे स्वरूपप्रतिभासात्परिणामाभावः ॥ **परिणामानित्यता** यथा—बदरीफलस्य श्यामतातिरोभावे लौहित्यस्याविर्भावः ॥ **प्रध्वंसानित्यता**। सर्वात्मना विनाशः। एतत्त्रिविधानित्यताप्रतिक्षेपेण नित्यतां प्रतिपादयितुमुक्तं **ध्रुवमित्यादि**। तत्र **ध्रुवं कूटस्थ**मिति संसर्गानित्यता परिहृता, **अविचालीति** परिणामानित्यता, **अनपायेत्या**-दिना प्रध्वंसानित्यता ॥

समाधान का साधक कहता है कि अथवा नित्य का यही लक्षण नहीं है कि जो [1]ध्रुव अर्थात् अयोघन (निहाई) के समान सदा स्थित रहने वाला रूपान्त-रापत्ति-रहित अर्थात् जिसका रूप-परिवर्तन न हो, जो विनाश और परिणाम रूप विकारों से रहित हो, जो उत्पन्न न हो, बढ़े नहीं और नष्ट भी न हो वही नित्य है। वह भी नित्य कहा जाता है जिसके नष्ट होने पर भी उसमें रहने वाले तत्त्व (धर्म) का नाश नहीं होता ?

प्रश्न—वह तत्त्व क्या है ?

उत्तर—घट आदि का उसमें रहने वाला घटत्व आदि रूप जो धर्म है वही तत्त्व है।

अवयवसंस्थानरूप उस आकृति के नष्ट होने पर भी उससे व्यङ्ग्य जाति रूप जो धर्म है वह नष्ट नहीं होता।

व्यक्ति में यद्यपि घटत्व या पटत्व जाति अभिव्यक्त (स्पष्ट रूप से प्रतीत) नहीं रहती, तथापि जो घट या पट विद्यमान है उनमें वह अभिव्यक्त ही रहती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति के नाश होने पर भी जाति का नाश नहीं होता। इससे आकृति नित्य है।

१. अनित्यता तीन प्रकार की होती है। पहली **संसर्गानित्यता** है जो स्वरूप के छिप जाने से मानी जाती है। जैसे स्फटिक का स्वरूप लाह के समीप में रखे जाने से छिप जाता है। इसमें दूसरे का रूप भासित होने से संसर्गानित्यता रहती है। दूसरी **परिणामा-नित्यता** है। बेर की श्यामता नष्ट हो जाने पर उसमें लोहितता आ जाती है, इसलिए यह उसकी परिणामानित्यता हुई। संसर्गानित्यता को परिणामानित्यता इसलिए नहीं मानते हैं कि लाह के हटा देने पर पुनः उसके स्वरूप का प्रतिभासन सम्भव रहता है, परन्तु उस लौहित्य के हटाने पर वह श्यामता सम्भव नहीं रहती। तीसरी है **प्रध्वंसा-नित्यता**। इसमें सर्वात्मना विनाश हो जाता है। इन तीनों प्रकारवाली अनित्यताओं को निराकरण द्वारा नित्यता के प्रतिपादन के लिए ध्रुव आदि कहा गया है।—कैयट

(नित्यानित्यत्वविचारस्याप्रकृतत्वबोधकभाष्यम्)

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ॥

(प्रदीपः) यन्नित्यमिति। बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थो यदा यदा शब्द उच्चारितस्तदा-तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः ॥

अथवा यह नित्य है कि अनित्य इस विचार से हमें क्या लाभ है? (व्यक्ति जाति अथवा आकृति इनमें) जो भी नित्य है उसे पद का अर्थ मान कर 'शब्द, अर्थ और संबन्ध के सिद्ध रहने पर' ऐसा 'शब्दार्थसंबन्ध' पद का विग्रह किया जाता है।

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ? ॥

इस पर प्रश्न[1] यह होता है कि अच्छा, यह कैसे जाना जाता है कि शब्द अर्थ और उनके संबन्ध सिद्ध (नित्य) हैं ?

(१ प्रत्याक्षेपसमाधानवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ २ ॥)

॥ * । लोकतः ॥ * ॥

उत्तर देने वाला कहता है कि लोकव्यवहार से जाना जाता है।

(भाष्यम्)

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो[2] वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय[3] शब्दान्प्रयुञ्जते ॥

(प्रदीपः) लोकत इति। अन्यथा कार्येषु वस्तुषु लोकव्यवहारः, अन्यथा नित्येषु। शब्दश्च व्यवहारोऽनादिवृद्धव्यवहारपरम्पराव्युत्पत्तिपूर्वक इति शब्दादीनां नित्यत्वम्। घटादयस्त्वर्थक्रियार्थिभिरन्यत आनीयन्त उत्पादविनाशयुक्ताश्चोपलभ्यन्ते। नैवं शब्दादयः ॥ **तावत्येवार्थमिति।** बुद्ध्या वस्तु निरूप्येत्यर्थः ॥

क्योंकि लोक में अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर ही (प्रयोग करनेवाले) शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे इन शब्दों की निष्पत्ति के निमित्त से कोई यत्न (उपाय विशेष) नहीं करते।

---

१. न तो अर्थ की ही निष्पत्ति व्याकरण से होती है न सम्बन्ध की ही। अतः अर्थ और सम्बन्ध की नित्यता मान ली जाय, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु शब्द तो व्याकरण से निष्पाद्य है, फिर इन शब्दों की नित्यता का निश्चय कैसे किया जाता है, इस आशय से पूछते हैं।

२. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'प्रयोक्ष्यमाणो' यह पाठ है।

३. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'तावत्येवार्थमर्थमुपादाय' यह पाठ है।

किन्तु जो पदार्थ उत्पाद्य होते हैं उनकी निष्पत्ति में यत्न करना पड़ता है। जैसे (कोई व्यक्ति यदि) घड़े से किसी काम को करने वाला होता है तो वह कुम्हारों के परिवार के निकट जाकर कहता है कि 'एक घड़ा बना दो इस घड़े से (मैं अमुक) काम करूँगा'। उसी प्रकार शब्दप्रयोग की इच्छा रखने-वाला वैयाकरणों के कुल में जाकर यह नहीं कहता है कि शब्दों को बना दो, मैं प्रयोग करूँगा। वैयाकरण के कुल में गये बिना ही बुद्धि द्वारा पदार्थ को पकड़ कर लोग शब्दों का प्रयोग करते हैं।

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते ?

भाष्यकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि अच्छा तो यदि इन शब्दों के बारे में लोकव्यवहार ही प्रमाण है तो (इतने बड़े) इस व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता क्या है ?

(१ समाधानभूतं तृतीयखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥ ※ ॥ लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः[1] ॥ ※ ॥

(भाष्यम्)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते ॥

किमिदं धर्मनियम इति ? ॥

धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः ॥

(प्रदीपः) अत्र भाष्यकारेण सम्भवन्तीमप्येकवाक्यतामनाश्रित्य वाक्यत्रयं व्यवस्थापितम्। **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे** शास्त्रं प्रवृत्तमित्येकं वाक्यम्। कथं ज्ञायत इति प्रश्ने **लोकतो** ज्ञायते इति द्वितीयम्। लोकत इत्यस्यावृत्त्या **लोकतोऽर्थप्रयुक्त** इत्यादि तृतीयम् ॥ **शब्दप्रयोग इति** प्रयोगग्रहणेन 'प्रयोगाद्धर्मो न तु ज्ञानमात्राद्' इत्युक्तं भवति। अर्थेनात्मप्रत्यायनाय प्रयुक्तोऽर्थप्रयुक्तः ॥ **धर्माय नियम इति**। चतुर्थ्यां तादर्थ्यं प्रतिपाद्यते। सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः, चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकारभाव एव विधानात् ॥ **धर्मार्थ इति**। धर्मार्थत्वान्नियम एव धर्मशब्देनाभिधीयते इति कर्मधारयः समासः ॥ **धर्मप्रयोजन इति**। लिङादिविषयेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्त इत्यर्थः ॥

व्याख्यानकर्ता कहता है कि लोकव्यवहार से अर्थ द्वारा स्वरूप-बोधन (अर्थ-ज्ञान) के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसमें शास्त्र से केवल धर्म-नियम किया जाता है।

प्रश्न—'धर्म-नियम' इस शब्द से कौन-सा अर्थ समझा जाय ?

---

१. वार्तिकार्थ—लोकव्यवहार से अर्थ द्वारा स्वरूपबोधन (अर्थज्ञान) के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसमें शास्त्र से केवल धर्म-नियम किया जाता है।

उत्तर यह जो असाधु-शब्द-निवृत्ति रूप नियम है, सो प्रत्यवाय के परिहार-[1] रूप धर्म के लिए है, यह अर्थ 'धर्म-नियम' शब्द में 'धर्माय नियमः' इस विग्रह से उपलब्ध होता है। 'धर्म अर्थात् यज्ञादि[2] कर्म के अर्थ नियम' यह अर्थ 'धर्मार्थो नियमः धर्म-नियमः' इस विग्रह से लब्ध होता है अथवा धर्म (पुण्य) के कारण[3] कहा हुआ नियम, यह अर्थ 'धर्म-प्रयोजनो नियमो धर्मनियमः' इस विग्रह से समझा जाता है।

(१ वार्तिकचतुर्थखण्डम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ यथा लौकिकवैदिकेषु[4] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—'यथा लोके वेदे चे'ति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिके'ष्विति प्रयुञ्जते ॥ अथवा युक्त एवात्र तद्धितार्थः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु ॥

लोके तावद् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते–इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति ॥ तथा—खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते–इयं गम्येयगमम्येति ॥

(प्रदीपः) **प्रियतद्धिता इति**। नायमपशब्दः किंतु ये लोकवेदयोर्भवा अवयवास्ते लोकवेदशब्दाभ्यामभिधातुं शक्यन्ते। आधाराधेयभावकल्पना तु तद्धितप्रयोगः प्रियतद्धितत्वनिमित्तः। यथा कश्चिद्वनरपतय इति प्रयुङ्क्ते कश्चिद्वानस्पत्यमिति समूहप्रत्ययान्तम् ॥ **अथवेति**। नात्रावयवावयविविभागः, किं तर्हि लोकवेदव्यतिरिक्तसिद्धान्तशब्दार्थोभयरूप इत्यर्थः ॥ **लौकिकः**, स्मृत्युपनिबद्धः। **वैदिकः**, श्रुत्युपनिबद्धः ॥ **शक्यं चानेनेति**। शकेः कर्मसामान्ये लिङ्गसर्वनामनपुंसकयुक्ते कृत्यप्रत्ययः। ततः पदान्तरसम्बन्धादुजायमानमपि स्त्रीत्वं बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गसंस्कारं न बाधते इति **शक्यं क्षुदित्युक्तम्**। यदा तु पूर्वमेव विशेष्यविवक्षा तदा शक्या क्षुदिति भवत्येव। यदा तु प्रतिघातस्यैव क्षुत्कर्म शकेस्तु प्रतिघातस्तदा क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यमिति भवति ॥ **खेदादिति**। खेदयतीति खेदो रागः, इन्द्रियनियमासामर्थ्यं वा खेदः ॥

व्याख्यानकर्ता कहता है कि दाक्षिणात्य विद्वानों को तद्धित प्रत्यय बहुत प्रिय

---

१. असाधु शब्द के प्रयोग करने से अधर्म की उत्पत्ति होती है सो न हो इसलिए।

२. यज्ञ में असाधु शब्द के प्रयोग करने पर उस यज्ञ में 'नानृतं वदेत्' इस वेदवाक्य के अनुसार वैगुण्य होना माना गया है। फलतः यज्ञ की पूर्णता के लिए द्वितीय अर्थ है।

३. 'एकः शब्दः' इत्यादि श्रुति के अनुसार साधु शब्द के प्रयोग करने से बहुत अधिक पुण्य माना जाता है। वह पुण्य अनायास लब्ध हो जाय, इसके लिए यह तीसरा अर्थ है।

४. वार्तिकार्थ—जैसे लोक और वेद में (धर्मनियम देखा जाता है वैसे ही यहाँ भी देखा जाता है।)

हैं। अतः 'यथा लोके वेदे च' (जैसे लोक और वेद में) इस प्रकार के वार्तिक लिखने के बदले वार्तिककार 'यथा लौकिकवैदिकेषु' ऐसा वार्तिक लिखते हैं।

अथवा (दाक्षिणात्य होने से वार्तिककार को तद्धितप्रत्ययप्रिय हैं), ऐसा न मानकर। तद्धित प्रत्यय अपने ठीक अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त हुआ है, ऐसा भी कहा जा सकता है। 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक-खण्ड का तब यों अर्थ किया जायेगा कि 'जैसे लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में।'

पहले लोक ही को लीजिए। वहाँ ऐसा कहा गया है कि 'गाँव का मुर्गा न खाया जाय' 'गाँव का सूअर न खाया जाय।' भूख शान्त करने के लिए जो खाया जाय वही भक्ष्य (खाद्य) माना गया है। भूखा व्यक्ति कुत्ते का मांस खाकर भी अपनी भूख शान्त कर सकता है। भूख को शान्त करने के लिए साधनभूत जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें (गाँव का मुर्गा न खाया जाय, गाँव का सूअर न खाया जाय, यह जो अलग-अलग नाम लेकर प्रतिषेध किया गया है इससे) यह नियम कर लिया जाता है कि अमुक-अमुक खाने योग्य और अमुक-अमुक न खाने योग्य हैं।

उसी प्रकार (लोक में) यौन[1] आकर्षण के कारण पुरुष का स्त्रियों की ओर झुकाव रहा करता है। पुरुष गम्य (समाज द्वारा सहवास के योग्य निर्धारित) स्त्री के निकट जाय अथवा अगम्य स्त्री के निकट उसके यौन आकर्षण की शान्ति अथवा तृप्ति समान रूप से होती है। अतः इसके सम्बन्ध में यह नियम कर लिया जाता है कि अमुक स्त्री तो सहवास के योग्य है और अमुक स्त्री नहीं।

(भाष्यम्)

वेदे खल्वपि—"पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालि-मांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा—'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्याद्" इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम् तत्र नियमः क्रियते।

तथा अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—"भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति। तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥

(प्रदीपः) पयोव्रत इति। सत्यामर्थितायां पय एव व्रतयतीति नियमोऽयं न तु विधिः, अर्थित्वाभावे कारणाभावात्॥

वेद में भी निश्चय रूप से नियम पाये जाते हैं। वेद में ऐसा कहा है कि ब्राह्मण

---

१. कैयट ने खेद शब्द का एक अर्थ इन्द्रियनियमासामर्थ्य (इन्द्रियों को रोक रखने में सामर्थ्य की कमी अथवा अभाव) दिया है। यह अर्थ यौन आकर्षण से मिलता-जुलता है इसलिए यही दिया है।

दूध पीकर व्रत का पालन करता है, क्षत्रिय यवागू (एक प्रकार का तरल पेय जो आटा आदि के योग से बनता है) पीकर व्रत की रक्षा करता है और वैश्य आमिक्षा[1] पीने का व्रत रखता है। व्रत वही है जो आहार के लिए गृहीत होता है। ये ब्राह्मण आदि चावल अहगनी धान के अथवा मांस खाने के भी व्रत रख सकते हैं। अतः आहार के लिए गृहीत होने वाले उन-उन पदार्थों में नियम[2] किया जाता है।

उसी प्रकार वेद में एक दूसरा वाक्य यह है कि (यज्ञ सम्बन्धी) यूप (खूटी) बेल अथवा खैर (की लकड़ी) का बनाया जाय। यूप (खूटा) वही है जो (यज्ञ) में पशुओं को बाँधने के काम में आता है। पशु बाँधने वाला यह काम किसी भी पेड़ की लकड़ी लेकर उसे छीलछाल कर अथवा बिना छीले (भूमि में हला कर अथवा बिना हलाये) कर सकता है। उन लकड़ियों में नियम किया जाता है कि खूटा बेल अथवा खैर की लकड़ी का ही होना चाहिए।

उसी प्रकार यज्ञ में अग्नि पर कपाल (मिट्टी की पतीलियों) को रख कर इस मन्त्र से उन्हें अभिमन्त्रित करता है कि 'भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्' (अर्थात् हे पतीलियो! तुम आङ्गिरस भृगुओं की कठोर तपस्या से तप्त हो जाओ) सच तो यह है कि बिना मन्त्र के भी अग्नि का तपाना स्वभाव ही है, इसलिए वह कपालों को तपा ही डालता है। अतः अनावश्यक होने पर भी 'अभिमन्त्रित करता है' ऐसा जब कहा गया तब यह नियम किया जाता है, कि 'मन्त्र को पढ़ कर तपाना' अभ्युदयकारी होता है।

(दार्ष्टान्तिक उपसंहारभाष्यम्)

एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति ॥ एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ॥

(प्रदीपः) समानायामिति। यद्यपि साक्षादपभ्रंशा न वाचकास्तथापि स्मर्यमाणसाधुशब्दव्यवधानेनार्थं प्रत्याययन्ति, केचिच्चापभ्रंशाः परम्परया निरूढिमागताः साधुशब्दनस्मारयन्त एवार्थं प्रत्याययन्ति ॥ अन्ये तु मन्यन्ते—साधुशब्दवदपभ्रंशा अपि साक्षादर्थस्य वाचका इति ॥

दृष्टान्तों में बदला चुकाने के बाद जब दार्ष्टान्तिक में धर्म-नियमत्व को

---

१. गरम दूध में दही डालने पर जो छेना तैयार होता है उसे ही आमिक्षा कहते हैं।

२. नियम का स्वरूप यह है कि "भोजन की चाह होने पर ब्राह्मण दूध पीकर ही, क्षत्रिय यवागू पीकर ही तथा वैश्य आमिक्षा खाकर ही व्रत की रक्षा करते हैं।" 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति' इस शास्त्र-वचन के अनुसार भोजन क्रिया के साधन जो अगहनी धान के चावल और दूध आदि हैं उनमें अगहनी धान के चावलों की प्राप्ति के पक्ष में अप्राप्त दूध के प्रापक होने से 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यादि जो वचन हैं वे नियम विधि ही हैं 'अपूर्वविधि' नहीं। क्योंकि अपूर्व विधि में सर्वथा अप्राप्ति रहनी चाहिए। यहाँ चावलों की प्राप्ति के पक्ष में दूध की अप्राप्ति है, किन्तु सर्वथा अप्राप्ति नहीं है। यही कारण है कि उक्त वचन नियम माने जाते हैं।

घटा रहे हैं—कि ऐसे ही प्रकृत में भी यद्यपि शब्द और अपशब्द से अर्थ के समझ लेने में कहीं कोई अन्तर (फरक) नहीं है समानता वर्तमान है, तो भी व्याकरण शास्त्र इस प्रकार से धर्म-नियम करता है कि साधु शब्दों से ही अर्थ का कथन हो, असाधु शब्दों से नहीं, ऐसा[१] करने से मनुष्य का कल्याण होता है।

(अनुपलब्धप्रयोगसाधुशब्दसाधकशास्त्रसार्थक्याधिकरणम्)

(जिनका प्रयोग नहीं मिलता है किन्तु व्याकरणशास्त्र से जिनकी सिद्धि की जाती है ऐसे साधु शब्दों के साधक शास्त्रों की सार्थकता का विचार)

(२ आक्षेपवार्तिकम् १ ।।)

।। * ।। अस्त्यप्रयुक्तः ।। * ।।

(भाष्यम्)

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा--ऊष, तेर, पेचेति ।।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ? ।।

प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति । य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ।।

(प्रदीप) अस्त्यप्रयुक्त इति । प्रयोगमूलत्वादस्याः स्मृतेरप्रयुक्तानामप्यन्वाख्यानादप्रामाण्यमाशङ्कते ।।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अप्रयुक्त शब्द भी है। कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग नहीं देखा जाता। जैसे—ऊष (तुम निवास किये थे), तेर (तुम तैरे थे), चक्र (तुमने किया था) और पेच (तुमने पकाया था)।

प्रश्न—शब्द हैं, किन्तु अप्रयुक्त हैं, यह जो कहा जाता हैं इससे (अप्रयुक्त हैं, इस कथन से) हानि क्या है?

उत्तर—क्योंकि आप (शब्दों के) प्रयोग से ही यह निश्चय करते हैं कि (अमुक) शब्द शुद्ध है किंवा अशुद्ध। अब यदि शब्द अप्रयुक्त हुए तो वे शब्द साधु नहीं माने जायेंगे।[२]

(आक्षेपासंगतिभाष्यम्)

इदं तावद्विप्रतिषिद्धम्--यदुच्यते--'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता' इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ताः न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ? ।।

---

१. व्याकरणशास्त्र का अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त कर चुकने के बाद किसी भी अर्थ के बोधन के लिए साधु शब्दों का प्रयोग करने से।

२. जब कि प्रयोग से ही यह निश्चय किया जाता है कि अमुक शब्द साधु है कि असाधु। तब अप्रयोग से असाधुत्व का अनुमान सहज ही हो जायगा। अनुमान यों होगा कि 'अप्रयुक्तशब्दा असाधवः, प्रयोगाविषयत्वात्' अर्थात् अप्रयुक्त शब्द (पक्ष) असाधु हैं (साध्य), क्योंकि (वे अप्रयुक्त शब्द) प्रयोग के विषय नहीं हैं।' (हेतु)।

(प्रदीपः) यथा घटादीनां विनाप्यर्थक्रियया सत्त्वं गम्यते मैवं शब्दानां, ते हि सर्वदा व्यवहाराय प्रयुज्यमानः सन्तः सत्त्वेनावसीयन्ते इत्याह—**इदमिति । कश्चेदानीमिति ।** उपहासपरम् ॥

'ऊपर का आक्षेप संगत नहीं है', ऐसा बतलानेवाला कहता है कि यह जो कहा जाता है कि 'शब्द हैं किन्तु अप्रयुक्त हैं' यह कथन परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि यदि शब्द हैं, तब अप्रयुक्त नहीं हो सकते। और यदि अप्रयुक्त हैं तो वे हैं ही नहीं (अर्थात् उनकी सत्ता ही नहीं मानी जा सकती।) 'हैं और अप्रयुक्त हैं' यह कथन परस्पर विरोधी है।

और आप स्वयं ऊष, तेर आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि 'शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग नहीं है।' स्वयं शब्द का उच्चारण करके उसका प्रयोग नहीं है ऐसा कहनेवाला भला आपके समान अन्य कौन व्यक्ति होगा जो शब्दों के प्रयोग करने में योग्य हो ?

(आक्षेपसंगतिबाधकभाष्यम्)

नैतद्विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद् ब्रूमः। यदेतान् शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते ॥ अप्रयुक्ता इति ब्रूमः। यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति ॥ यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति ॥

किं तर्हि ? ॥

लोकेऽप्रयुक्ता इति ॥

(प्रदीपः) उत्तरं तु शास्त्रदृष्ट्या प्रकृतिप्रत्ययादिसद्भावादनुमितसत्त्वाः, व्यवहारे तु न दृश्यन्त इत्युक्तम् ॥

ऊपर वाले आक्षेप की असंगति का खण्डन करने वाला कहता है कि यह कथन परस्पर विरोधी नहीं है। यह जो हम कहते हैं कि 'शब्द हैं' इसका कारण यह है कि वैयाकरण लोग इन्हें (ऊष, तेर आदि को) शास्त्र (व्याकरण) द्वारा सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार यह जो हम कहते हैं कि उन शब्दों का प्रयोग नहीं देखा जाता, इसका तात्पर्य यह है कि लोक में नहीं देखा जाता। और यह जो आपका कहना है कि "स्वयं शब्द का उच्चारण करके उसका प्रयोग नहीं है ऐसा कहने वाला भला आपके समान अन्य कौन व्यक्ति होगा जो शब्दों के प्रयोग करने में योग्य हो" तो उस सम्बन्ध में हमारा उत्तर यह है कि उसका अर्थ 'हमारे द्वारा उन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया' ऐसा नहीं है।

प्रश्न—तब कैसा (अर्थ) है ?

उत्तर—'लोगों से उन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया' ऐसा है।

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके ॥

इस पर प्रश्न होता है कि अजी, आप भी तो लोगों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं न ?

(समाधानभाष्यम्)

अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः ॥

(प्रदीपः) न त्वहं लोक इति । यथा लोकोऽर्थावगमाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते नैवं मयैतेर्थे प्रयुक्ता अपि तु स्वरूपपदार्थका इत्यर्थः ॥

पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि हाँ जी, मैं लोगों में ही अन्तर्भूत हूँ यह सही है पर मैं ही तो लोग[1] नहीं ।

(३ आक्षेपबाधकवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत् । तन्न ॥ किं कारणम् ? ॥ अर्थे शब्दप्रयोगात् । अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते । सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ॥

(प्रदीपः) अर्थे शब्दप्रयोगादिति । अर्थसद्भावः शब्दप्रयोगे लिङ्गम् । न हि बिना शब्देनार्थप्रत्यायनमुपपद्यते ॥

वार्तिक का व्याख्याता कहता है कि कुछ शब्दों का प्रयोग देखा नहीं जाता । अतः वे कुछ शब्द असाधु हो जायँगे ऐसा कथन ठीक नहीं ।

प्रश्न—क्या कारण है (कि ऐसा कथन ठीक नहीं है) ?

उत्तर—कारण यह है कि शब्द-प्रयोग अर्थ में होता है अर्थात् अर्थविषयक ज्ञान के लिए होता है । इन ऊष, तेर आदि शब्दों के भी अर्थ हैं जिनमें इनका प्रयोग है ।[3]

---

१. यहाँ 'लोक' शब्द का अर्थ समझाते हुए कैयट और नागेश ने जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यह है कि 'अर्थ के सही सही रूप से अवगम के लिए जो शब्दों का प्रयोग करने वाला होता है वही भाष्यानुसार यहाँ लोक कहा जाता है । स्वयं भाष्यकार लोक नहीं हो सकते । कारण कि वे 'ऊष', 'तेर' आदि का प्रयोग उनके अर्थ के बोधन के लिए नहीं अपितु स्वरूपबोधन के लिए करते हैं । इसलिए यहाँ भाष्यकार की सम्मति में लोक शब्द रूढ न रह कर पारिभाषिक रह गया है । अतः वे यद्यपि लोगों के अन्तर्भूत हैं परन्तु अर्थ के सही सही रूप से अवगम कराने के लिए शब्दों का प्रयोग करने वाला न होने के कारण स्वयं लोक नहीं है ।

२. वार्तिकार्थ—अप्रयुक्त शब्द भी देखे जाते हैं, यह कहना उचित नहीं । क्योंकि शब्द का प्रयोग अर्थ विषयक ज्ञान के लिए ही होता है ।

३. यहाँ कैयट का कहना यह है कि किसी भी शब्द के प्रयोग में उसके अर्थ की प्रतीति का होना कारण होता है । यदि बिना शब्द के किसी अर्थ का बोधन सम्भव भी होता, तो वह अर्थ-सद्भाव शब्द-प्रयोग का कारण न होता । फलतः हम ऐसी अनुमिति कर लेते हैं कि 'ऊष, तेर आदि शब्द (पक्ष), लोगों के प्रयोग के विषय हैं (साध्य) । क्योंकि ऊष, तेर आदि के जो अर्थ हैं उनका वे बोध कराते हैं (हेतु) ।

(४ आक्षेपसाधकवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्[1] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः ॥ कुतः ? ॥ प्रयोगान्यत्वाद् । यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान् प्रयुञ्जते । तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे—क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे–क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे—क्व यूयं कृतवन्तः । पेचेत्यस्यास्यार्थे—क्व यूयं पक्ववन्त इति ॥

(प्रदीपः) इतरोऽन्यथासिद्धतामाह—**अप्रयोग इति** । यतोऽन्ये तेषामर्थानां सन्ति वाचकास्ततो नैषामनुमानमुपपद्यते । यद्यप्यूषेत्यस्य उषिता इति समानार्थो न भवति परोक्षतादेर्विशेषस्यानवगमात्तथापि तत्प्रत्यायनाय पदान्तरसहितः प्रयुज्यते ॥

वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि इन (ऊष, तेर इत्यादि) शब्दों का अप्रयोग उचित ही है ।

प्रश्न—कैसे उचित है ?

उत्तर— इसलिए कि (इन शब्दों के जो अर्थ हैं उन्हीं में) दूसरे शब्दों का प्रयोग देखा जाता है ।[2]

क्योंकि लोग इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

उदाहरणार्थ—'ऊष' इस शब्द का जो अर्थ है, उसी अर्थ में लोग "क्व यूयमुषिताः" ऐसा भी कहा करते हैं । वैसे ही इसके अर्थ में 'क्व यूयं तीर्णाः' चक्र के अर्थ में 'क्व यूयं कृतवन्तः' और पेच इसके अर्थ में 'क्व यूयं पक्ववन्तः' ऐसा कहा करते हैं ।[3]

(५ सिद्धान्तसमानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्[4] ॥ * ॥

---

१. वार्तिकार्थ—(उन शब्दों से) अन्य शब्दों के प्रयोग किये जाने के कारण (उन शब्दों का) अप्रयोग माना जाय ।

२. तात्पर्य यह है कि ऊष, तेर इत्यादि शब्दों को अर्थ होने से भले ही उस अर्थ के बोधन के लिए उन शब्दों का प्रयोग होना सम्भव हो, पर उनका प्रयोग दिखाई नहीं देता । कारण कि उन शब्दों के अर्थ में लोग दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

३. क्व यूयमुषिताः (तुम कहाँ रहे ?), क्व यूयं तीर्णाः (तुम कहाँ पार किये), क्व यूयं कृतवन्तः (तुम कहाँ किये ?), क्व यूयं पक्ववन्तः (तुम कहाँ पकाये ?) इन सभी उदाहरणों में जो कि क्रमशः ऊष, तेर, चक्र और पेच के बदले में प्रयुक्त हुए हैं क्व (कहाँ से) परोक्षता और यूयं से मध्यमपदत्व का भान होने लगता है जो ऊष आदि के लिट् और मध्यम पुरुष के बहुवचन से लब्ध हैं ।

४. वार्तिकार्थ—(यद्यपि) अप्रयुक्त हैं तो भी अवश्य ही दीर्घसत्र के समान (ये शब्द व्याकरण के सूत्रों द्वारा) सिद्ध करने योग्य हैं ।

(भाष्यम्)

यद्यप्यप्रयुक्ताः अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेया । तद्यथा दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्या-[1]हरति । केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ॥

(प्रदीपः) सम्प्रत्यप्रयुज्यमानानामपि पूर्वं प्रयुक्तत्वादनुशासनं कर्तव्यमित्याह—**अप्रयुक्त इति ॥ ऋषिसम्प्रदाय इति** । वेदाध्ययनमित्यर्थः ॥

वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि यद्यपि इत्यादि शब्द लोगों से अप्रयुक्त हैं, तो भी अवश्य ही लम्बी अवधि तक चलने वाले सत्त्र के समान ये शब्द व्याकरण के सूत्रों द्वारा सिद्ध करने योग्य हैं । जैसे सत्त्र । (लंबी अवधि तक चलने वाले यज्ञ) सौ अथवा हजार वर्ष तक चलने वाले होते हैं । आज कल यद्यपि ऐसे यज्ञों को कोई नहीं करता है तो भी ऋषिप्रणीत संप्रदाय (वेदाध्ययन) धर्म है, इसलिए ब्राह्मण पढ़ते हैं और कल्पसूत्र द्वारा याज्ञिक लोग इन यज्ञों का वर्णन करते हैं ।

(६ सिद्धान्तसमानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ सर्वे देशान्तरे[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ॥

(प्रदीपः) सर्वे इति । इदमत्र तात्पर्यम्—यस्य कस्यचिद्वचनात्प्रयोगौ न व्यवतिष्ठेते, अपितु शिष्टानामेव वचनात् ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि ये सब शब्द दूसरे देशों में प्रयुक्त हैं ।

(आक्षेपभाष्यम्)

[3]न चैवोपलभ्यन्ते ॥

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् ॥ महान्[4] शब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना[5] एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमामेव ।

---

१. कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में 'कश्चिदपि व्यवहरति' यह पाठ है ।
२. वार्तिकार्थ—सब (शब्द) दूसरे देशों में (प्रयुक्त हैं) ।
३. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'न चैत उपलभ्यन्ते' यह पाठ है ।
४. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'महान् हि' यह पाठ है ।
५. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'विभिन्ना' यह पाठ है ।

(प्रदीपः) वाकोवाक्यमिति । वाकोवाक्यशब्देनोक्तिप्रत्युक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते— यथा—"**किंस्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महद्**" इति ॥ पूर्वचरितसंकीर्तनमिति-**हासः**। वंशाद्यनुकीर्तनं **पुराणम्** ॥

इस पर प्रश्न होता है कि प्रयुक्त हैं तो उपलब्ध क्यों नहीं हैं ?

समाधाता उत्तर देता है कि उपलब्धि के लिए प्रयत्न (उपाय) कीजिए। (क्योंकि) शब्दों के प्रयोग का क्षेत्र बहुत बड़ा है। सात द्वीपों वाली पृथिवी, तीन लोक, अङ्गों एवं उपनिषदों के सहित तथा बहुत-सी शाखाओं से भिन्न चार वेद जिनमें यजुर्वेद की एक सौ एक[1] शाखाएँ हैं, सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं, ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं तथा अथर्ववेद नौ शाखाओं वाला है, वाकोवाक्य (उक्तिप्रत्युक्ति रूप ग्रन्थ,), इतिहास, पुराण और वैद्यक[2] यह इतना शब्द के प्रयोग का विषय (देश) है। शब्द-प्रयोग के इस इतने महान् क्षेत्र का पर्यवेक्षण किये बिना 'शब्द अप्रयुक्त हैं' यह कहना केवल साहस भर है।

एतस्मिंश्चातिमहति[3] शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते ॥ दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

(प्रदीपः) विकार इति । जीवतो मृतावस्था विकारस्तत्रेत्यर्थः ॥

शब्द-प्रयोग के इस महान् क्षेत्र में कुछ विशेष विशेष शब्द कुछ विशेष विशेष देशों में नियत अर्थ वाले देखे जाते हैं। जैसे—शव् धातु गमन अर्थ में कंबोज देश में ही बोलचाल में पाया जाता है। किन्तु आर्य लोग इस शव् धातु को प्राणिशरीर के विकार (मृतशरीर, मुर्दा) इस अर्थ में ही प्रयोग हैं—शव ऐसा। (शव् धातु का अलग—स्वातन्त्र्येण प्रयोग नहीं करते हैं); वैसे ही गमन अर्थ में 'हम्म्' धातु सौराष्ट्र में ही प्रयुक्त है। 'रंह' धातु पूर्व और मध्य देशों में प्रयुक्त है। किन्तु आर्य लोग (गमन अर्थ में) गम् धातु का ही (हम्म्, रंह् का नहीं) प्रयोग करते हैं। पूरबी देशों में काटने अर्थ में 'दाति' (दो = दा + क्तिच्) शब्द प्रयुक्त है। उत्तरी देशों में उसी काटने अर्थ में 'दात्र' (दो = दा + ष्ट्रन्) शब्द ही का प्रयोग करते हैं।

---

१. कुछ लोग जो इसका यह अर्थ करते हैं कि 'यजुर्वेद' की सौ शाखाएँ हैं, सो ठीक नहीं वस्तुतः एक अधिक सौ अर्थात् एक सौ एक इसी अर्थ के करने में 'एक शत' के एक शब्द की सार्थकता है। अन्यथा शतम् कहने से ही एक सौ यह अर्थ निकल जाता।

२. यहाँ परिगणना नहीं की गई है। प्रकृतभाष्य दिग्दर्शनपरक है। इसीलिए शकुनादि आगम, कल्पसूत्र, गाथा, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, उपवेद, काव्य, नाटक एवं पाखण्डादि आगमों की अलग से गणना 'भाष्यकार' नहीं किये।

३. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'एतस्मिन्नतिमहति' ऐसा पाठ है।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते ॥ क्व ? ॥ वेदे । तद्यथा—"सप्तास्ये रेवतीरेवदूष, यद्वो रेवतीरेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्" इति ॥

और जिन शब्दों को आप अप्रयुक्त मानते हैं उनके भी प्रयोग देखे जाते हैं। प्रश्न—कहाँ देखे जाते हैं? उत्तर—वेद में। (वेद के वे वाक्य ये हैं)—यद्वो रेवती रेवत्यं तदूष। यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्मं चक्र। (ऋ. वे. १।१६५।११) यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् (ऋ. वे. १।८९।९) इत्यादि।

(अथ शब्दज्ञानस्य धर्मजनकताधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनः—शब्दस्य ज्ञाने धर्मः, आहोस्वित् प्रयोगे ? ॥

(प्रदीपः) किं पुनरिति। "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" इति श्रुतिः। तत्र किं सम्यग् ज्ञातः कामधुग् भवति सुप्रयोगात्तु सम्यग्ज्ञातत्वानुमानमित्यर्थः, आहोस्वित्सुप्रयुक्तः कामधुग् भवति सुप्रयुक्तत्वं तु सम्यग्ज्ञानादित्यर्थ इति प्रश्नः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि क्या साधु शब्द के ज्ञानमात्र[1] से ही धर्म होता है अथवा प्रयोगमात्र से ही।

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ? ॥

प्रत्याक्षेप करने वाला उक्त प्रश्न पर एक स्वतन्त्र प्रश्न ही उपस्थित करता है कि इन दोनों पक्षों में विशेषता क्या है ?

(७ ज्ञानपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि[3] प्राप्नोति। यो हि शब्दाञ् जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ॥

---

१. 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' यह श्रुति है। इसी श्रुति के अनुसार यह आशङ्का उठती है कि क्या शब्द यदि भली भाँति ज्ञात हो तो सभी कामनाओं को देनेवाला होता है, किन्तु उस शब्द के सुप्रयोग से यह अनुमान कर लिया जाता है कि शब्द-प्रयोक्ता को भली भाँति ज्ञात है अथवा शब्द सुप्रयुक्त रहकर ही कामनाओं की वर्षा करनेवाला होता है और शब्द का वह जो सुप्रयुक्त होना है सो इस के सम्यक् ज्ञान के कारण है? इस आशङ्का के अनुसार ही ऊपरवाला प्रश्न होता है कि ज्ञानमात्र से ही धर्म होता है अथवा प्रयोगमात्र से ही ?

२. वार्तिकार्थ—ज्ञान से धर्म होता है तो अधर्म भी होने लगेगा।

३. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'अपि' यह पाठ नहीं है।

(प्रदीपः) ज्ञाने धर्म इति चेदिति । यथा श्लेष्मणः प्रकोपनं स्नेहद्रव्यं रूक्षं तु वायोस्तथेहापि प्राप्तमिति भावः ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि साधु शब्द के ज्ञानमात्र से धर्म होता है यदि ऐसा मान लें तो अधर्म भी होने लगेगा ।

क्योंकि जो मनुष्य साधु शब्दों को जानता है, वह असाधु शब्दों को भी जानता है । जैसे ही साधु शब्दों के ज्ञान से धर्म होता है, वैसे ही असाधु शब्दों के ज्ञान से अधर्म भी होता है ।

(अधर्माधिक्यभाष्यम्)

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो [1]ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य गावीगोणीगोता-गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ॥

अथवा बहुत अधिक अधर्म होने लगेगा । क्योंकि असाधु शब्द बहुत अधिक हैं और साधु शब्द थोड़े । एक एक साधु शब्द के बहुत से असाधु शब्द सम्भव हैं । जैसे—गौः इस एक साधु शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश होते हैं ।

(८ ज्ञानपक्षे दूषणान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ ॐ ॥ आचारे नियमः[2] ॥ ॐ ॥

(भाष्यम्)

आचारे पुनर्ऋर्षिर्नियमं वेदयते—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" इति ॥

(प्रदीपः) आचारे प्रयोगे ॥ ऋषिर्वेदः ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि ऋषि (वेद) आचार अर्थात् प्रयोग के विषय में (साधु शब्द ही प्रयोग के योग्य है, असाधु शब्द नहीं इस) नियम का बोधन करता है । वेद कहता है कि वे दैत्य हेलयो हेलयः ऐसा उच्चारण कर पराभूत हुए ।[3]

(अथ प्रयोगपक्षाङ्गीकारभाष्यम्)

अस्तु तर्हि प्रयोगे ॥

---

१. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'हि' का पाठ नहीं है ।

२. वार्तिकार्थ—प्रयोग के विषय में नियम है ।

३. यज्ञ के बीच दैत्यों ने शत्रु के रूप में देवों को ललकारा था । उस समय उन्होंने 'हे अरयः' (हे शत्रुओं) ऐसा न कहकर 'हेलयः' ऐसा अपशब्द उच्चारण किया । यज्ञ में जहाँ साधु शब्द का उच्चारण होना चाहिए था वहाँ इस असाधु शब्द के उच्चारण से उन्हें महान् अधर्म ही नहीं हुआ अपितु उनकी पराजय तक हुई । फलतः यह सिद्ध होता है कि साधु और असाधु शब्दों के केवल ज्ञान से धर्म, अधर्म नहीं होता, बल्कि उनके प्रयोग से होता है ।

प्रयोग पक्ष का अङ्गीकार करने वाला कहता है कि (जब कि 'शब्दज्ञाने धर्मः' इस पक्ष के मानने में उक्त रीति से दोष आते हैं) तब शब्द के प्रयोग से ही धर्म होता है, यही पक्ष रहे।

(९ प्रयोगपक्षे दूषणवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ ※ ॥ प्रयोगे सर्वलोकस्य[1] ॥ ※ ॥

(भाष्यम्)

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि यदि शब्द के 'प्रयोग में धर्म है' ऐसा मान लिया जाय तब सभी[2] लोग अभ्युदय से युक्त हो जायँगे।

(आक्षेपभाष्यम्)

कश्चेदानीं भवतो मत्सरो, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

अब आक्षेप होता है कि यदि सभी लोग अभ्युदय से युक्त हो जायँगे तो इसमें आपका द्वेष कौन-सा है ?

(समाधानभाष्यम्)

न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः॥

(प्रदीपः) न च प्रयत्न इति। यदि प्रयत्नेन विना फलं स्यात् प्रयत्नवैयर्थ्यमापद्येतेत्यर्थः॥

समाधान करने वाला कहता है कि द्वेष तो कोई नहीं है, किन्तु व्याकरण पढ़ने के बारे में जो प्रयत्न (श्रम) है वह व्यर्थ हो जाता है। निश्चय ही प्रयत्न को फलवान् होना चाहिए। प्रयत्न फल से अलग होने योग्य नहीं है। (यदि अलग हो जाय तो प्रयत्न की व्यर्थता होने लगेगी।)

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयःशब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते॥

उक्त समाधन का विरोध करने वाला कहता है कि तो जिसने व्याकरण पढ़ने में परिश्रम किया होगा वे ही सही सही तौर पर शब्दों का प्रयोग करेंगे और वे ही भली भाँति अभ्युदय से युक्त होंगे।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः, अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यातिरेकोऽपि स्यात्।

---

१. वार्तिकार्थ—यदि प्रयोग में धर्म है ऐसा मान लें, तो सब लोगों का अभ्युदय होने लगेगा।

२. व्याकरणशास्त्र शब्द के साधुत्वज्ञान का साधन है। उस व्याकरणशास्त्र में जिसने श्रम किया है और जिसने श्रम नहीं किया है ऐसे सभी लोगों से यहाँ मतलब है।

(प्रदीपः) व्यतिरेक इति । परिहासः ॥

समाधान की पुष्टि करने वाला कहता है—किन्तु विपरीतता भी तो देखी जाती है । क्योंकि कुछ लोग प्रयत्न कर चुकने पर भी कौशल रहित देखे जाते हैं और कुछ लोग प्रयत्न नहीं किये होने पर भी कौशल-युक्त । उनमें (अप्रवीण कृतप्रयत्न और प्रवीण अकृतप्रयत्न में) प्रयत्न और फल का वियोग[1] भी होगा ।

(पक्षद्वयनिराकरणोपसंहारभाष्यम्)

एवं तर्हि—नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव ॥

किं तर्हि ? ।

उक्त दोनों पक्षों का निराकरण करते हुए अपने कथन का उपसंहार करते हैं कि यदि उन दोनों पक्षों में दोष है तब तो साधु शब्द के ज्ञान में ही धर्म है न कि साधु शब्द के प्रयोग में ही । प्रश्न—तब धर्म है किसमें ?

(१० सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ४)

॥*॥ शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन[2] ॥*॥

(भाष्यम्)

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते । तत्तुल्यं वेद-शब्देन । वेद शब्दा अप्येवमभिवदन्ति "योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैन-मेवं वेद" "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद" ॥

(प्रदीपः) तत्तुल्यमिति । वेदः शब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दस्तस्य यथा ज्ञात्वा-नुष्ठानं तथा शब्दानामपि प्रकृत्यादिविभागज्ञानपूर्वकः प्रयोग इत्यर्थः ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि जो पुरुष शास्त्रपूर्वक (पहले व्याकरण शास्त्र से निरुक्ति जानकर) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है । यह बात वेदशब्द (वेद के ब्राह्मणवाक्य[3]) के तुल्य ही है ।

---

१. अर्थात् विना प्रयत्न किये भी फल मिलने लगेगा और प्रयत्न करने का भी कोई फल नहीं मिलेगा ।

२. वार्तिकार्थ—शब्दों के शास्त्रपूर्वक प्रयोग किये जाने से अभ्युदय होता है । यह वेदशब्द के तुल्य ही है ।

३. इस अर्थ के लिए उत्तरदायी मैं स्वयं ही हूँ । "वेदशब्द" शब्द का यह अर्थ किसी और ने भी किया है, यह मुझे ज्ञात नहीं । इस शब्द के अर्थ करने में सबों ने अपनी-अपनी कल्पना का सहारा लिया है । स्वयं भगवान् पतञ्जलि ने ही दो व्याख्याएँ की हैं । कैयट लिखते हैं कि 'वेदः शब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दः"। नागेश ने देखा कि इतने से भी बात खुलती नहीं है तो कैयट के कथन की यों व्याख्या की 'वेदः शब्द इति—बोधक इत्यर्थः।' स्वयं ही उन्हें जब अपनी व्याख्या से सन्तोष नहीं हुआ तो कहा कि 'प्रमाण-मित्यर्थो वा।' तत्त्वालोककार एक अन्य ही अर्थ करते हैं—वेदशब्देन—"स्वतःप्रमाणभूत-वेदशास्त्रमात्रबोध्यस्वरूपसाधनफलककर्मणा।" तो जब आचार्य से लेकर आधुनिक टीका-कार तक सबने अपनी आप मनमानी की है तो एक धृष्टता मेरी भी क्षम्य रहनी चाहिये ।

वेदशब्द (ब्राह्मण वाक्य) भी ऐसा ही कहते हैं कि—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद । योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद (जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और जिसे अग्निष्टोम यज्ञ का ज्ञान है, उसी प्रकार जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जिसे नाचिकेत अग्निविषयक ज्ञान है, उन्हें पुण्य प्राप्त होता है ।)

(व्याख्यान्तरभाष्यम्)

अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति ।

(प्रदीपः) अपर आहेति । वेदश्चासौ शब्दश्च वेदशब्द इति कर्मधारयः ॥

दूसरी व्याख्या करने वाला 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' का अर्थ यों करता है कि जैसे वेद-शब्द नियमपूर्वक पढ़े जाने पर फलवान् होते हैं वैसे ही जो पुरुष शास्त्र-पूर्वक (पहले व्याकरण शास्त्र से निरुक्ति जान कर) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगभाष्यम्)

अथ वा पुनरस्तु—ज्ञान एव धर्म इति ॥

प्रथम पक्ष की स्वीकृति करता हुआ कहता है कि अथवा केवल शब्दज्ञान में भी धर्म होता है यदि ऐसा कहें तो भी कोई हानि नहीं ।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ॐ ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म ॐ इति ॥

"ज्ञाने धर्मः" इस पक्ष में कहे गये दोष का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं—कि किन्तु वैसा कहने पर क्या पूर्व में यह दोष नहीं बतलाया गया है कि "साधु शब्द के ज्ञानमात्र से धर्म होता है यदि ऐसा मान लें तो अधर्म भी होने लगेगा ।"

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः, शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् ॥ यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ॥

आक्षेप का निराकरण करने वाला कहता है कि उस पक्ष में अपशब्दज्ञान से अधर्मप्राप्ति रूप यह दोष नहीं होगा । क्योंकि हमारे लिए शब्द ही प्रमाण हैं । शब्द (वेद) जो कुछ कहता है, वही हमारे लिए प्रमाण है । शब्द बतलाता है कि साधु शब्द के ज्ञान[1] से धर्म होता है अपशब्द के ज्ञान से अधर्म होता है ऐसा शब्द नहीं कहता । जो काम न तो शास्त्र से विहित ही है और न निषिद्ध ही है,

१. देखो—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः' इत्यादि श्रुति का अनुवाद । 'हेलयो हेलयः' इत्यादि वचन यज्ञ में अपशब्द के प्रयोग में अधर्म बतलाता है, अपशब्द के ज्ञान में नहीं ।

उसके करने से न कोई दोष (पाप) ही होता है और न कोई अभ्युदय (पुण्य) ही। उदाहरणार्थ—हिचकी लेना, हँसना और खुजलाने को लीजिए। (इनके विषय में न शास्त्रों द्वारा विधान ही है और न प्रतिषेध ही इस लिए) इन कामों के करने से न कोई पाप ही होता है और न कोई पुण्य ही।

(**समाधानान्तरभाष्यम्**)

अथ वाभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। यो [1]ह्यपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति। तदेवं 'ज्ञाने धर्मः' इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' इति॥

(प्रदीपः) अथवेति। अपशब्दज्ञानान्तरीयकत्वाच्छाब्दज्ञानस्य पृथक् फलमपशब्दज्ञानस्य नास्तीत्यर्थः॥

समाधानान्तर उपस्थित करनेवाला कहता है कि अथवा शब्दज्ञान में अपशब्द का ज्ञान अभ्युपाय (सहकारी कारण) है क्योंकि जिसे ही अपशब्दविषयक ज्ञान है, उसे ही साधु शब्दविषयक ज्ञान भी है। तो इस प्रकार "ज्ञान से धर्म होता है" ऐसा कहने वाले को अर्थतः यह प्राप्त हो जाता है कि अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान से धर्म होता है।

(**समाधानान्तरभाष्यम्**)

अथ वा कूपखानकवदेतद्भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन्यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति। सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति। येन च स दोषो निर्हण्यते; भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति॥ एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्धानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति॥

(प्रदीपः) दोष इति। उत्कृष्टधर्मफलावाप्तौ स्वल्पमधर्मफलमुत्पन्नमप्यनुत्पन्नकल्पं भवतीत्यर्थः॥

दूसरा समाधान यह उपस्थित करते हैं कि अथवा कुआँ खोदने वाले के समान यह (अपशब्द-ज्ञान) होगा जैसे कुआँ खोदने वाला कुआँ खोदता हुआ यद्यपि कीचड़ और धूल से ढँक जाता है तो भी वह कुएँ में, जल निकल आने पर उसी जल से (नहा धोकर) निर्मल होता है और उससे उसका वह मलिनतारूप दोष पूर्णतया दूर कर दिया जाता है। साथ ही उसे बहुत अधिक पुण्य भी प्राप्त होता है।

वैसे ही इस (शब्दज्ञान) में भी (व्याकरण पढ़नेवाले को) यद्यपि (अपशब्द के ज्ञान से) अधर्म प्राप्त होता है तो भी शब्द के ज्ञान से जो धर्म होता है उस धर्म के प्राप्त होने से उसका (व्याकरण पढ़नेवाले का) अपशब्द-ज्ञान से उत्पन्न वह दोष दूर कर दिया जायगा और साथ ही उसे बहुत अधिक पुण्य भी प्राप्त होगा।

---

१. कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में 'हि' का पाठ नहीं है।

(द्वितीयदूषणनिरासभाष्यम्)

यदप्युच्यते—आचारे नियमः इति ॥

याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियमः[१]। एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः पराप्रज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते ॥ तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः ॥

(प्रदीपः) प्रत्यक्षधर्माण इति। योगजप्रत्यक्षेण सर्वं विदितवन्तः ॥ **परापरज्ञा इति**। विद्याविद्याविभागज्ञाः ॥

'ज्ञाने धर्मः' इस पक्ष में जो द्वितीय दोष दिया गया है, उसका निराकरण करते हैं कि यह जो कहा जाता है कि 'आचारे नियमः' अर्थात् वेद आचार (प्रयोग) के विषय में धर्म के नियम का बोधन करता है, सो वह नियम यज्ञकर्मविषयक है। अन्य कर्मों के विषय में नहीं है। ऐसी श्रुति है कि 'यर्वाणस्तर्वाणः' इस नाम[२] से प्रसिद्ध कोई ऋषि हो चुके थे। उन्हें योग से उत्पन्न ज्ञान द्वारा सब कुछ विदित था, वे परा और अपरा विद्याओं के पण्डित थे, जो कुछ जानने योग्य है वह उन्हें (पहले से ही) विदित था विश्व के सभी पदार्थों का जो अपना स्वरूप है, उसी स्वरूप का उन्हें साक्षात्कार था। वे पूजनीय (ऋषि) व्यवहार में "यद्वा नः तद्वा नः" इन साधु शब्दों के प्रयोग करने के बदले "यर्वाणस्तर्वाणः" इन (असाधु) शब्दों का प्रयोग करते थे, किन्तु यज्ञ कर्म में अपशब्दों का कभी उच्चारण नहीं करते थे। और (हेलयो हेलयः कहने वाले) वे असुर यज्ञ कर्म के बीच अपशब्दों का उच्चारण किये थे, और उससे वे पराभव को प्राप्त किये।

(अथ व्याकरणपदार्थनिरूपण आक्षेपभाष्यम्)

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ॥

(प्रदीपः) अथेति। उक्तमिदं **न चान्तरेण व्याकरणमि**त्यादि। तत्र पक्षद्वयेऽपि दोषदर्शनात् पदार्थप्रश्नः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि अच्छा 'व्याकरण' इस शब्द का अर्थ क्या है?

(समाधानभाष्यम्)

सूत्रम् ॥

समाधानकर्ता उत्तर देता है कि—सूत्र।

---

१. कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करण में 'अन्यत्रानियमः' इतना नहीं है।

२. 'यर्वाणस्तर्वाणः' यह नाम ऋषि का अपना नाम नहीं था इस आनुपूर्वी के कारण लोगों द्वारा दिया हुआ नाम था। इसके लिए नाम० प्र० स० के कोषोत्सवस्मारक संग्रह में स्वर्गीय श्री केशवप्रसाद मिश्र का 'उच्चारण' शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य है। श्री का० वा० अभ्यंकर के महाभाष्य (मराठी अनुवाद) में ऋषि का नाम यर्वन् और तर्वन् लिखा गया है, जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से अशुद्ध है।

(११ सूत्रपक्षे आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः[1] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति ॥ किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणम्, यस्यादः सूत्रं स्यात् ॥

(प्रदीपः) षष्ठ्यर्थ इति। द्वाभ्यामपि शब्दाभ्यामष्टाध्याय्याः प्रतिपादनाद्व्यतिरेकाभावः। सामान्यविशेषशब्दतया तु द्वयोः सह प्रयोगो न विरुध्यते, यदा त्वष्टाध्याय्येकदेशः सूत्रशब्देनोच्यते, तदा षष्ठ्यर्थोऽप्युपपद्यते ॥

वार्तिक का व्याख्याता कहता है कि यदि व्याकरण इस शब्द का अर्थ सूत्र मान लें तो 'व्याकरण का सूत्र' इस वाक्य में षष्ठी का अर्थ नहीं बनेगा। क्यों कि (व्याकरण और सूत्र दोनों में अभेद होने से) सूत्र से अलग व्याकरण क्या होगा जिस व्याकरण का वह सूत्र माना जायगा ?

(१२ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ शब्दाप्रतिपत्तिः[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे इति। नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते ॥

किं तर्हि ? ॥

व्याख्यानतश्च ॥

(प्रदीपः) शब्दाप्रतिपत्तिरिति। न हि व्याख्यानरहितसूत्रमात्रश्रवणाच्छब्दाः प्रतीयन्ते ॥

उक्त आक्षेप वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि यदि व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र मान लें तो सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्यों कि हम कहा करते हैं कि व्याकरण से हम शब्दों का ज्ञान करते हैं। किन्तु लोगों को सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न—तब किससे होता है ?

उत्तर—(व्याकरण शब्द के वाच्य) व्याख्यान सहित सूत्र[3] से (शब्द का ज्ञान होता है)।[4]

---

१. वार्तिकार्थ—यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मान लें तो षष्ठी का अर्थ नहीं बनेगा।

२. वार्तिकार्थ—इस वार्तिक में पूर्ववार्तिक से 'सूत्रे व्याकरणे' इस अंश को लाकर अर्थ करेंगे कि यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मान लें तब शब्द की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होगी।

३. 'व्याख्यानतश्च' के समुच्चायार्थक 'च' शब्द से सूत्र का भी समुच्चय मानकर उक्त अर्थ किया गया है।

४. सूत्र और व्याकरण जब दोनों अभिन्न हैं तब व्याकरण का अर्थ सूत्रों का व्याख्यान नहीं होगा। इस अर्थ के नहीं होने से 'व्याकरण से हम शब्द का ज्ञान करते हैं, यह कहना उचित नहीं होगा।

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ॥

आक्षेप की पुष्टि करनेवाला कहता है कि परन्तु (व्याकरण पद के वाच्य रूप से विवक्षित) वह सूत्र ही तो विभक्त होकर व्याख्यान कहा जाता है ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः' 'आत्' 'ऐज्' इति ॥

किं तर्हि ?

उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ॥

(प्रदीपः) समुदितमिति । समुदायादेवार्थावसायोत्पादादित्यर्थः ॥

आक्षेप का खण्डन करनेवाला कहता है कि केवल सूत्र के अलग-अलग किये जानेवाले पद जैसे—वृद्धिः, आत् और ऐच् ही व्याख्यान नहीं हैं ।

प्रश्न—(यदि सूत्र के अलग-अलग किये गये पद व्याख्यान नहीं) तब व्याख्यान किसे कहा जाय ?

उत्तर—उदाहरण रखना, प्रत्युदाहरण बतलाना और जिन पदों किं वा वाक्यों की सूत्र में कमी हो उन्हें बाहर से लेना ये कुल मिल कर व्याख्यान कहलाते हैं ।

(पक्षान्तरभाष्यम्)

एवं तर्हि शब्दः ।

पक्षान्तर उपस्थित करनेवाला कहता है कि (व्याकरण पद का अर्थ सूत्र मानने में यदि दोष है) तो शब्द ही व्याकरण का अर्थ रहे ।

(१३ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ शब्दे ल्युडर्थः[1] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् । नहि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते ॥

केन तर्हि ? ॥

सूत्रेण ॥

(प्रदीपः) शब्द इति । करणे ल्युड् विधीयते । शब्दश्च व्याक्रियमाणत्वात्कर्म न तु करणमिति भावः ॥

वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' माना जाय तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता है । (करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय के करने से यहाँ) "जिससे शब्दों की व्याकृति (निरुक्ति या

१. वार्तिकार्थ—(व्याकरण का अर्थ) शब्द लें, तो ल्युट् का अर्थ (नहीं बनता है) ।

व्युत्पत्ति) की जाय, वह व्याकरण है" यह व्याकरण शब्द का अर्थ सिद्ध होता है। शब्द से तो किसी की व्याकृति (व्युत्पत्ति) की नहीं जाती है।[1]

(१४ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ भवे च तद्धितः[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरणः' इति। नहि शब्दे भवो योगः ॥

क्व तर्हि ?

सूत्रे ॥

(प्रदीपः) भवे चेति। शब्देऽप्यन्वाख्यापकत्वेन भवो योग इति चेन्मीमांसादियोगस्यापि शब्दं प्रति विचारकत्वाद्वैयाकरणत्वप्रसङ्गः।

प्रश्न—तब किस से की जाती है ?

उत्तर—सूत्र से।

वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि और यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' लें तब भव अर्थ में (होनेवाला इस अर्थ में) व्याकरण शब्द के आगे तद्धित प्रत्यय (अण्) नहीं बनेगा। जैसे—वैयाकरण शब्द में देखा जाय कि 'व्याकरण शास्त्र में होने वाला योग (सूत्र)" इस अर्थ में व्याकरण शब्द के आगे 'तत्र भवः' ४. ३. १०३ इस सूत्र से "वहाँ होनेवाला" इस अर्थ में अण् प्रत्यय किया है। वह योग (सूत्र) शब्द में नहीं होता है।

प्रश्न—तब कहाँ होता है ?

उत्तर—सूत्रपाठ में होता है।

(१५ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ प्रोक्तादयश्च तद्धिताः[3] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते ॥ पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। आपिशलं काशकृत्स्नमिति। नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः ॥

किं तर्हि ? ॥

सूत्रम् ॥

तृतीय आक्षेप उपस्थित करनेवाले वार्तिक का व्याख्यान करनेवाला कहता है कि यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' मान लें तो प्रोक्त (कहा हुआ)

---

१. व्युत्पत्ति शब्द की ही जाती है। शब्द से किसी और की व्युत्पत्ति नहीं होती।

२. वार्तिकार्थ—यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' लें तब 'भव' अर्थ तद्धित प्रत्यय नहीं बनेगा। कीलहॉर्न तथा पूनावाले संस्करणों में 'भवे' इतना ही पाठ है।

३. वार्तिकार्थ—और प्रोक्त (कहा हुआ) आदि अर्थवाले तद्धित प्रत्यय नहीं बनते हैं।

आदि अर्थवाले तद्धित प्रत्यय पाणिनिशब्द के आगे नहीं बनते हैं। उदाहरणार्थ "पाणिनि से कहा हुआ" इस अर्थवाले पाणिनीय शब्द आपिशल अथवा काशकृत्स्न शब्द को ले सकते हैं।[1] क्योंकि पाणिनि ने शब्दों को नहीं कहा है।

प्रश्न—तो फिर किसे कहा है?

उत्तर—सूत्र को।

(आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिदमुभयमुच्यते ❀भवे❀ ❀प्रोक्तादयश्च तद्धिताः❀ इति। न ❀प्रोक्तादयश्च तद्धिताः❀ इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ॥ ? ॥

अब पुनः प्रश्न यह होता है कि 'भवे' और 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो पृथक् वार्तिक आचार्य ने क्यों कहे[2] हैं? क्या 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इस एक ही वार्तिक के कहने से 'भव' अर्थ में जो तद्धित प्रत्यय होता है, उसकी भी अनुपपत्ति नहीं आ जायगी?

(परिहारभाष्यम्)

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टम् ❀भवे च तद्धितः❀ इति, तत्पठितम्। तत उत्तरकालमिदं दृष्टम् ❀प्रोक्तादयश्च तद्धिताः❀ इति, तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ॥

(प्रदीपः) न चेदानीमिति। लक्षणप्रपञ्चाभ्यां मूलसूत्रवद्वार्तिकानामुपपत्त्या दोषाभावः ॥

उक्त आक्षेप का परिहार करते हैं कि पहले आचार्य (वार्तिककार) ने विचार किया कि उस पक्ष में भव अर्थ में तद्धित प्रत्यय का होना नहीं बनेगा। सो, आचार्य ने (उस दोष को बतलाने के लिए) 'भवे च तद्धितः' इस वार्तिक का पाठ किया। तदनन्तर विचारा कि प्रोक्त आदि अर्थ में किये जानेवाले प्रत्यय भी नहीं बनेंगे। अतः इस दोष को बतलाने के लिए उन्होंने 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इस वार्तिक को भी लिखा। आचार्य एक बार किसी सूत्र (यहाँ के लिए लक्षण से वार्तिक अर्थ लिया जायगा) को बना चुकने के बाद उससे निवृत्त नहीं होते हैं।

(थमाक्षेपकबाधकभाष्यम्)

अयं तावददोषः—यदुच्यते ❀शब्दे ल्युडर्थः❀ इति। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते ॥

किं तर्हि? ॥

अन्येष्वपि कारकेषु—"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति। तथद्या प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति ॥

(प्रदीपः) प्रस्कन्दनमिति। यद्यप्ययं भीमादिस्तथापि **कृत्यल्युटो बहुलमित्यस्यैव भीमादयोऽपादान** इत्ययं प्रपञ्च इति भावः ॥

---

१. इन सभी शब्दों की सिद्धि समुचित अर्थ के प्रतिपादन में असम्भव रहेगी।

२. दो पृथक् वार्तिकों का कहना ठीक नहीं है।

प्रथम आक्षेप का परिहार करते हैं कि यह जो कहा जाता है कि यदि व्याकरण शब्द का अर्थ 'शब्द' लें तब (वैयाकरण शब्द में) ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं बनता है यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि करण और अधिकरण इन दो अर्थों में ही ल्युट् प्रत्यय किया जाता है, ऐसी कोई बात नहीं।

प्रश्न—तब किन अर्थों में किया जाता है ?

उत्तर—कृत्यल्युटो बहुलम् [पा. सू. ३. ३. ११३.] अर्थात् "कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुलता से (सभी अर्थों में) होते हैं" इस पाणिनि सूत्र के अनुसार और जो दूसरे (करण अधिकरण को छोड़कर) कारक हैं उनमें भी होते हैं। उदाहरण के लिए [1]प्रस्कन्दनम् और प्रपतनम् को लें।

(करणल्युट्समर्थनभाष्यम्)

अथ वा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति॥

(प्रदीपः) गौरित्युक्ते इति। सास्नादिमति यदा कश्चित्प्रति 'अयं गौः' इत्युच्यते तदा तत्र वाचकान्तराणां निवृत्तिः कृता भवति एवमेकस्मिन्नुदाहरणे उपन्यस्ते सर्वाणि तत्सदृशानि शब्दान्तराणि प्रतीयन्ते॥

व्याकरण शब्द का अर्थ शब्द है इस पक्ष में करण अर्थ वाले ल्युट् का समर्थन करते हैं कि अथवा शब्दों की व्युत्पत्ति शब्दों से भी की जाती है। जैसे—गौ: (बैल) इस शब्द के कहने से कुल संदेह दूर हो जाते हैं कि न घोड़ा न गधा।[2]

(अनुद्धृतदोषप्रदर्शकभाष्यम्)

अयं तर्हि दोषः—❀ भवे ❀ ❀ प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ❀ इति॥

तब (उक्त रीति से दोषों के निराकरण किये जाने पर भी) भव और प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित प्रत्यय के नहीं बनने का जो यह दोष है सो तो रह ही जाता है।

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि—

यदि ऐसी बात है तो—

---

१. प्रस्कन्दनम् और प्रपतनम् में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' [३.३.११३] इसी सूत्र से अपादानकारक में ल्युट् प्रत्यय किया गया है। जिस स्थान से किसी वस्तुविशेष को गति अथवा पतन प्राप्त हों। वह स्थान ही प्रस्कन्दन और प्रपतन माना गया है। भीमादयोऽपादाने [३.४.७४] यह सूत्र उक्त सूत्र का ही प्रपञ्च है, अतः उक्त दोनों शब्द उसी सूत्र [३.३.११३] के उदाहरण हैं।

२. गौः कहने पर घोड़ा और गधा का व्याकरण इस प्रकार किया जाता है कि जब किसी प्राणी को हम 'गौः' कह देते हैं तो घोड़ा आदि शब्द अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि व्याकरण का काम है वितरीत को बिलगा देना।

(१६ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ १६ ॥)

॥ * ॥ लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्[1] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति ॥

किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् ? ॥

शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् ॥

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि लक्ष्य और लक्षण दोनों का समुदाय[2] व्याकरण है।

प्रश्न—लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है ?

उत्तर—शब्द लक्ष्य है सूत्र लक्षण है।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते—वैयाकरण इति ॥

उक्त समाधान का खण्डन करने वाला कहता है कि फिर भी यह दोष तो आ ही जाता है कि व्याकरण शब्द की प्रवृत्ति लक्ष्य और लक्षण इन दोनों के समुदायरूप अर्थ में है, इस लिए इनके अवयव (केवल शब्द या केवल सूत्र) में उसकी (व्याकरण शब्द की) प्रवृत्ति नहीं बनेगी। केवल सूत्र पढ़ने वाले के विषय में भी वैयाकरण शब्द का प्रयोग (आचार्य को) इष्ट है।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

नैष दोषः। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः[3] कृष्ण इति ॥ एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते ॥

---

१. वार्तिकार्थ—व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य और लक्षण है।

२. यहाँ व्याकरण शब्द पङ्कज शब्द के समान लक्ष्यलक्षणसमुदाय का बोध कराने वाला है। 'वृक्षस्य शाखा' के समान ही 'व्याकरणस्य सूत्रम्' इसमें भी भेद की विवक्षा करके षष्ठी के अर्थ की उपपत्ति की जाती है। लक्ष्य-लक्षण समुदाय से शब्दज्ञान के किये जाने से 'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे' यह जो व्याकरण से किया जाने वाला शब्दज्ञान-विषयक व्यवहार है, उसकी उपपत्ति हो जाती है। वैसे ही लक्ष्यलक्षणसमुदाय व्याकृतिरूप क्रिया का करण है अतः 'व्याकरणम्' इस पद में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय की उपपत्ति सिद्ध हो जाती है। वैसे ही उक्त समुदाय एकदेश से अभिन्न है इसलिए भव और प्रोक्त आदि अर्थों में व्याकरण के आगे तद्धित प्रत्ययों की भी उपपत्ति हो जायगी। इसलिए समुदाय पक्ष में पिछला कोई दोष नहीं होगा। —तत्त्वालोक।

३. कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में 'कपिलः' यह पाठ नहीं है।

(प्रदीपः) पूर्वे पञ्चाला इति । जनपदान्तरनिवृत्तिविवक्षायामेकदेशेऽपि समुदायरूपारोपात्प्रयोगः ॥ **तैलमिति** । यदौषधसंस्कृता घृततैलशब्दयोः संस्थानप्रमाणनिरपेक्षा सर्वत्रमुख्या वृत्तिः ॥ **शुक्ल इति** । अशुक्लेऽप्यवयवेऽवयवान्तरस्य शौक्ल्यात् समुदायस्य शुक्लत्वे सत्या (तस्या) रोपात् प्रयोगः ॥

समाधान की पुष्टि करने वाला उत्तर देता है कि यह जो आप दोष देते हैं, वह नहीं होगा । क्योंकि समुदायवाचक शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त पाये जाते हैं । जैसे—पूर्व पंचाल[1] देश, उत्तर पंचाल देश, तेल[2] खाया, घी खाया, और शुक्ल, नील, कपिल और कृष्ण । वैसे ही इस व्याकरण शब्द की प्रवृत्ति समुदाय अर्थ में रहने पर भी अवयव अर्थ में भी यह प्रयुक्त रहता है ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अथ वा पुनरस्तु सूत्रम् ॥

व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र है इस प्रथम पक्ष का समर्थन करते हैं कि अथवा व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र ही रहे (तो भी कोई हानि नहीं) ।

(प्रथमाक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ❀ सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ❀ इति ॥

इस पर प्रथम दोष का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि किन्तु ऊपर यह जो कहा गया है कि यदि व्याकरण इस शब्द का अर्थ सूत्र मान लें तो षष्ठी का अर्थ नहीं बनेगा ।

(प्रथमाक्षेपनिरासभाष्यम्)

नैष दोषः, व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ॥

(प्रदीपः) व्यपदेशिवद्भावेनेति । यथा राहोः शिर इत्येकस्मिन्नपि वस्तुनि शब्दार्थभेदाद्भेदव्यवहारः, एवमिहापि व्याकरणशब्देन शास्त्रस्य व्याकृतिक्रियायां करणरूपत्वमुच्यते सूत्रशब्देन तु समुदायरूपतेति भेदव्यवहार उपपद्यते ।

उक्त प्रथम दोष का निराकरण करते हैं कि यह नहीं होगा । व्यपदेशिवद्भाव मान लेने से काम चल जायेगा । (जैसे 'राहु का सिर' इस कथन में राहु

---

१. आज भी हम ऐसा पाते हैं कि दूसरे जनपद या राज्य की निवृत्ति के लिए समुदायवाची बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि शब्दों का लोग अवयव (एक नगर या गाँव) अर्थ में प्रयोग करते हैं । उसी प्रकार पूर्व और उत्तर पंचाल के विषय में समझना होगा ।

२. 'तेल खाया और घी खाया' इन उदाहरणों की सार्थकता तभी है, जब औषधयुक्त घी और तेल के एक परिमित भाग का—मात्रा का भोजन—किया गया हो । घी और तेल कहने पर (आयुर्वेद आदि में) औषध से संस्कारयुक्त घी आदि रूप जो एक समुदाय (पूरा भाग) है, उसी का बोध होता है । अब जो औषधयुक्त घी और तेल के एक परिमित भाग के (अवयव के) खाने पर भी तेल खाया अर्थात् दवा के रूप में तैयार जो तेल का समुदाय था उसे खाया यह कहा गया है सो उस दशा में नहीं बनता, यदि समुदायवाचक शब्द अवयव अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता ।

और सिर दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं एक ही पदार्थ हैं। तो भी शब्द और अर्थ में जो भेद होता है उस भेद[1] के कारण 'राहु का सिर' इसमें भी भेद का व्यवहार मान लिया जाता है, वैसे ही यहाँ भी व्याकरण शब्द व्याकृति रूप क्रिया में करण रूप से तो शास्त्र को बतलावेगा और सूत्र शब्द केवल समुदाय रूप अर्थ को ही। अतः इनमें भेद का व्यवहार बन जाता है।)

(द्वितीयाक्षेपस्मारणभाष्यम्)

यदप्युच्यते ॐशब्दाप्रतिपत्तिःॐ इति। नहि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते ॥ किं तर्हि ॥ व्याख्यानतश्चेति ॥ परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति ॥

द्वितीय दोष स्मरण दिलाने वाला कहता है कि यदि व्याकरण का अर्थ सूत्र मान लें तो 'सूत्र से हम शब्द का ज्ञान करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लोगों को सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता है। तब किससे होता है?' "व्याख्यान सहित सूत्र से।" यह जो पहले कहा जा चुका है उसका तो परिहार हम दे चुके हैं कि वह सूत्र ही तो विभक्त होकर व्याख्यान कहा जाता है।

(परिहारबाधकस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत ऐजिति ॥

किं तर्हि? ॥ "उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति" इति ॥

पूर्वोक्त परिहार के खण्डन का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि अजी, यह भी तो (वहीं) कहा जा चुका है कि "केवल सूत्र के अलग-अलग किये जाने वाले पद जैसे वृद्धिः, आत् और ऐच् ही व्याख्यान नहीं है।

प्रश्न—तब व्याख्यान किसे कहा जाय?

उत्तर—उदाहरण देना, प्रत्युदाहरण बतलाना और जिन पदों किंवा वाक्यों की सूत्र में कमी हो उन्हें बाहर से ले लेना ये कुल मिलकर व्याख्यान कहलाते हैं" ऐसा।

(परिहारसाधकभाष्यम्)

अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते ॥ आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत ॥

(प्रदीपः) सूत्रत एवेति। पदच्छेदादिभिः सूत्रार्थस्यैवाभिव्यञ्जनात् ॥ **आत** इति निपातः। अतश्च हेतोरित्यर्थः। **नाद इति।** नैतदित्यर्थः ॥ अथवा नादोऽर्थरहितत्वाद् घोषमात्रमेवेत्यर्थः ॥

---

१. अनेक अवस्थाओं से युक्त जो मस्तकरूप अर्थ है सो राहु शब्द का अर्थ है। उन्हीं अवस्थाओं में किसी एक अवस्था से युक्त वह मस्तकरूप अर्थ 'शिरस्' शब्द का वाच्य है। इस प्रकार राहु अवयवी और शिर अवयव हो जाता है।

द्वितीय दोष में स्मरण किये गये परिहार का समर्थन करते हैं कि उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि समुदायरूप व्याख्यान के सहित सूत्र से शब्दज्ञान होता है ऐसा जो कहता है सो मन्दबुद्धिवाले जिज्ञासु के विचार से हैं। वस्तुतः शब्दों का ज्ञान सूत्र से ही होता है। चूंकि सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान होता है, इसलिए जो सूत्र से कुछ ऊपर की (सूत्र से विरुद्ध) बात कहता है वह[1] स्वीकार के योग्य नहीं होता।

(अथ वर्णोपदेशप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ?।

(प्रदीपः) किमर्थ इति । नहि वर्णोपदेशेन कस्यचित्साधुशब्दस्यानुशासनमिति भावः ॥

अब प्रश्न यह होता है कि अइउण् आदि चौदह सूत्रों द्वारा जो वर्णों का उपदेश किया गया है उसका प्रयोजन क्या है ?

(१७ समाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः ॥

किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति ?।

वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः ॥

का पुनर्वृत्तिः ? ॥ शास्त्रप्रवृत्तिः ॥

अथ कः समवायः ? ॥ वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः ॥

अथ क उपदेशः ? ॥ उच्चारणम् ॥

कुत एतत् ? ॥ दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति ॥

(प्रदीपः) वृत्तिसमवायार्थ इति। लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थ इत्यर्थः। धर्मनियमवत्समासः ॥ **वृत्त्यर्थ इति**। शास्त्रप्रवृत्तिप्रत्यासन्नत्वं समवायस्य दर्शयति। **इग्यण** इत्यादौ हि **यथासंख्यं शास्त्रं** वर्णसन्निवेशमात्रादेवावतिष्ठते **वृत्तिप्रयोजन इति**। पारम्पर्येण शास्त्रप्रवृत्तावस्याङ्गत्वम्। सति हि समवाये इत्संज्ञा। तत **आदिरन्त्येनेति** [प्रत्याहारः] ततो **हलोप** इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिः।

---

१. यहाँ महाभाष्य में नादो गृह्येत ऐसा जो कहा गया है, उससे दो अर्थ (न अदः गृह्येत और नादः गृह्येत) अभिप्रेत जान पड़ते हैं। एक अर्थ तो ऊपर दिया जा चुका है किन्तु दूसरा यह अर्थ भी सम्भव है कि जो सूत्र से अलग की अथवा सूत्र से विरुद्ध बात कहता है उसका वह कथन निरर्थक नादमात्र होता है।

२. वार्तिकार्थ—वृत्तिसमवाय (शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए क्रमशः वर्णों के न्यास) के लिए उपदेश है।

उक्त समाधान वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि वर्णों के उपदेश का प्रयोजन है वृत्तिसमवाय।

प्रश्न—वृत्तिसमवाय का अर्थ क्या है ?

उत्तर—वृत्ति के लिए समवाय; अथवा जिसका फल[1] वृत्ति है वह समवाय; अथवा जिसका प्रयोजन[2] वृत्ति है वह समवाय 'वृत्तिसमवाय' है।

प्रश्न—वृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर—शास्त्र की प्रवृत्ति।

प्रश्न—समवाय का अर्थ क्या है ?

उत्तर—वर्णों को किसी विशेष क्रम से रखना।

प्रश्न—उपदेश का अर्थ क्या है ?

उत्तर—उपदेश का अर्थ है—उच्चारण।

प्रश्न—किस कारण उपदेश का अर्थ उच्चारण किया जाता है ?

उत्तर—दिश् धातु का अर्थ है—उच्चारण क्रिया। क्योंकि उच्चारण कर चुकने पर आचार्य कहते हैं कि इन वर्णों का उपदेश किया गया।

(१८ वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ ※ ॥ अनुबन्धकरणार्थश्च ॥ ※ ॥

(भाष्यम्)

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति। नह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च। वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्। प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः॥

(प्रदीपः) प्रत्याहारार्थमिति। प्रत्याहारशब्देनाणादिकाः संज्ञा उच्यते॥

द्वितीय प्रयोजन बतलाने वाले वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता

---

१. अक्षरसमाम्नाय के रहते उसमें वर्णों का जो एक विशेष क्रम रहता है उससे अच् आदि संज्ञाएँ बन जाती हैं और उनसे (उन अच् आदि संज्ञाओं के द्वारा) शास्त्र की प्रवृत्ति सुलभ हो जाती है। इग्यणः [१.१.४५] सूत्र के इक् और यण् इन दोनों संज्ञाओं से क्रमशः चार-चार अक्षर समझे जाते हैं। फलस्वरूप यथासंख्यमनुदेशः समानाम् [१.३.१०] इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यथासंख्य मानने का फल यह हुआ कि 'अदुहितराम्' इस प्रयोग में ल को जो इ हुआ है उसकी संप्रसारण संज्ञा नहीं हुई और हलः [६.४.२] से उसका दीर्घ नहीं हुआ।

२. यहाँ प्रयोजन का अर्थ प्रवर्तक है। अर्थात् शास्त्र की प्रवृत्ति वर्णों के जिस क्रमिक न्यास का प्रवर्तक है वह वृत्तिप्रयोजन समवाय कहा जाता है। जैसे इक् और यण् प्रत्याहारों के बन जाने से ही इको यणचि [६.१.७७] आदि सूत्रों की प्रवृत्ति सम्भव होती है। अतः इको यणचि की प्रवृत्ति क्रमिक वर्णन्यास का प्रयोजन अथवा प्रवर्तक हुई।

३. वार्तिकार्थ—और अनुबन्ध लगाने के लिए वर्णोपदेश करना चाहिए।

है कि और अनुबन्ध[1] लगाने के लिए वर्णों का उपदेश करना चाहिए क्योंकि आचार्य का यह निश्चय है कि मैं अनुबन्ध लगाऊँगा।

तो बिना वर्णों का उपदेश किये अनुबन्धों का लगाना सम्भव[2] नहीं। इसलिए यह जो वर्णों का उपदेश है, सो एक तो शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए किसी विशेष क्रम से वर्णों के बोधन के लिए है और दूसरे अनुबन्धों के लगाने के लिए है। शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए जो समवाय (विशेष क्रम से वर्णों का पढ़ा जाना) और अनुबन्ध का लगाना है सो दोनों बातें प्रत्याहार के लिए उपयोगी होती हैं। प्रत्याहार वृत्ति अर्थात् शास्त्रों की प्रवृत्ति के लिए है।

(१९ वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ इष्टबुद्ध्यर्थश्च[3] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः--'इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे' इति। नह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ॥

(प्रदीपः) इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति। सति ह्युपदेशे कलादिदोषरहिता ये वर्णा निर्दिष्टास्तथैव प्रयोक्तव्या इत्युक्तं भवति।

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि और वैयाकरणों को जैसा वर्णोच्चारण अभिलषित है वैसे ही उच्चारण वाले वर्णों के बोधन (स्वरूप-निर्देश) के लिए वर्णों का उपदेश कर्तव्य है। क्योंकि आचार्य का यह निश्चय है कि उपदेश द्वारा हम (सभी जिज्ञासुओं के लिए) इष्ट वर्णों का ज्ञान करा देंगे। तो जब तक पहले वर्णों का उपदेश न कर लिया जाय, दोषरहित इष्ट वर्णों का दूसरों को ज्ञान करा देना शक्य नहीं है।

(२० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः[4] ॥ * ॥

---

१. अनुबन्ध अर्थात् जिसकी इत्संज्ञा की गई है वह वर्ण। ये अनुबन्ध विशेष-विशेष कामों के लिए चिह्न के रूप में लगाये जाते हैं।

२. अनुबन्धों के लगाने में वर्णों का पहले से उच्चारण किया जाना नितान्त आवश्यक है। अ इ उ के उपदेश किये जाने पर ही उसके आगे 'ण्' रूप चिह्न लगाना सम्भव रहता अन्यथा असम्भव ही था।

३. वार्तिकार्थ—और इष्ट वर्णों के बोध के लिए (वर्णों का) उपदेश करना चाहिए। (कुछ लोग इस वार्तिक को वार्तिक न मानकर भाष्य ही मानते हैं।)

४. वार्तिकार्थ—यदि इष्ट वर्णों के बोधन के लिए (उपदेशकर्ता द्वारा) वर्णों का उपदेश किया गया है तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक दीर्घ और प्लुत इन (वर्णों के गुणों) का भी उपदेश करना चाहिए।

(भाष्यम्)

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ॥

(प्रदीपः) एकश्रुत्या हि सूत्राणां पाठात्सर्वेषामुदात्तादीनामुपदेशः कर्तव्य इत्याह— इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदिति ।

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि यदि ऐसा कहें कि इष्ट[1] वर्णों के बोध कराने के उद्देश्य से उपदेश करना आवश्यक है तब तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत इन गुणों का भी उपदेश किया जाना चाहिए। क्योंकि इन गुणों वाले वर्ण भी सत्र के लिए अभिप्रेत ही हैं।

(२१ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ आकृत्युपदेशात् सिद्धम्[2] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

[3]अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ॥

(प्रदीपः) आकृत्युपदेशादिति । उपातोऽपि विशेषो नान्तरीयकत्वाज्जातिप्राधान्यविवक्षायां न विवक्ष्यत इत्यर्थः ॥

उक्त सिद्धान्त वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि (अवर्ण के-उपदेश द्वारा) अवर्ण में रहने वाली जाति का उपदेश किया गया है। वह (उपदिष्ट अवर्ण जी जाति) सभी अवर्ण के समुदायों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और निरनुनासिक) का ज्ञान करा देगी। वैसे ही इवर्ण की आकृति । वैसे ही उवर्ण की आकृति ।

(२२ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः[4] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

---

१. कल आदि दोषों से रहित ।

२. वार्तिकार्थ—(वर्णों के उपदेश से वर्णगत) जाति के उपदेश के विवक्षित होने से (उदात्तत्वादि गुणवाले वर्णों का बोधन) सिद्ध हो जायगा । (कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में यह वार्तिक नहीं भाष्य-वचन माना गया है ।)

३. कीलहॉर्न और पूनावाले संस्करणों में इसके पूर्व 'आकृत्युपदेशात् सिद्धमेतत्' यह पाठ है ।

४. वार्तिकार्थ—आकृति के उपदेश से (उदात्तत्वादि गुणवाले वर्णों का बोधन) सिद्ध हो जायेगा । यदि ऐसा कहें, तो संवृत आदि दोषोंवाले वर्णों का प्रतिषेध कहना पड़ेगा ।

के पुनः संवृतादयः ?॥ संवृतः, कलो, ध्मात, एणीकृतो, ऽम्बूकृतो, ऽर्धको, ग्रस्तो, निरस्तः, प्रगीतः, उपगीतः, क्ष्विण्णो, रोमश इति ॥

अपर आह—

"ग्रस्त निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्। संदष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः" इति ॥ अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ॥

(प्रदीपः) संवृतादीनामिति। एकारादीनां संवृतत्वं दोषो नत्वकारस्य तस्य संवृतगुणत्वात्, तत्र सन्ध्यक्षरेषु विवृततमेषूच्चार्येषु संवृतत्वं दोषः **कलः** स्थानान्तरनिष्पन्नः काकलिकत्वेन प्रसिद्धः। **ध्मातः** श्वासभूयिष्ठतया ह्रस्वोऽपि दीर्घ इव लक्ष्यते। **एणीकृतोऽ**विशिष्टः किमयमोकार अथौकार इति यत्र सन्देहः **अम्बूकृतो** यो व्यक्तोऽप्यन्तर्मुख इव श्रूयते। **अर्धको** दीर्घोऽपि ह्रस्व इव। **ग्रस्तो** जिह्वामूले निगृहीतः, अव्यक्त इत्यपरे। **निरस्तो** निष्ठुरः। **प्रगीतः** सामवदुच्चारितः। **उपगीतः** समीपवर्णान्तरगीत्यानुरक्तः। **क्ष्विण्णः** कम्पमान इव। **रोमशो** गम्भीरः। **अवलम्बितो** वर्णान्तरासंभिन्नः। **निर्हतो** रूक्षः **सन्दष्टो** वर्धित इव। **विकीर्णो** वर्णान्तरे प्रसृतः। एकोऽप्यनेकनिर्भासीत्यपरे। **स्वरदोषभावना इति**। स्वरदोषगोत्राणि। अनन्ता हि दोषा अशक्तिप्रमादकृताः।

वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि यदि जाति के उपदेश के विवक्षित होने से सिद्ध हो जायगा ऐसा कहा जाय तो संवृत आदि दोषों वाले वर्णों का प्रतिषेध कहना पड़ेगा।[1]

प्रश्न—वे संवृत आदि दोष कौन-कौन हैं ?

उत्तर—संवृत (वर्ण के उच्चारण का जो स्थान है उसके समीप में रहती हुई जिह्वा के व्यापार द्वारा जो वर्ण उच्चारित होता है वह संवृत कहा जाता है। ए, ओ आदि में संवृतोच्चारण दोष है), कल (जिस वर्ण का जो अपना स्थान नहीं है, उस स्थान की ओर जीभ को घुमाकर उच्चारण करने से कल दोष कहा जाता है।), ध्मात (जिस वर्ण के उच्चारण में साँस की जितनी मात्रा अपेक्षित रहती है उस मात्रा से अधिक साँस लेकर उच्चारण करने से ध्मात दोष कहा जाता है। ध्मात उच्चारण में ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ जैसा जान पड़ता है।), एणीकृत (जिस उच्चारण पर लोगों को सन्देह बना रहे कि आखिर यह कौन-सा वर्ण उच्चरित हुआ, वही एणीकृत कहा जाता है। उदारहणार्थ कभी-कभी ऐसा उच्चारण सुनने में आ जाता है जिसमें न साफ-साफ ओकार ही जाना जाता है और न औकार ही), अम्बूकृत (जो स्पष्ट होता हुआ भी मुँह के भीतर ही

---

१. तात्पर्य यह है कि यदि कहा जाय कि हम जो उपदेश करते हैं सो अवर्ण, इवर्ण आदि का नहीं बल्कि उनमें रहने वाली अत्व, इत्व आदि जातियों का करते हैं, इस जाति के उपदेश से सभी अवर्ण, इवर्ण आदि जाने जा सकेंगे तब तो जहाँ संवृत, कल आदि दोष होंगे वैसे अवर्ण, इवर्ण आदि में भी अत्व, इत्व आदि जातियों के रहने से उन-उन दोषोंवाले अवर्ण, इवर्ण आदि भी गृहीत होने लगेंगे। किन्त उनका ग्रहण इष्ट न होने से प्रतिषेध करना आवश्यक हो जायगा।

जान पड़े वैसा उच्चारण अम्बूकृत कहा जाता है।), अर्धक (इसमें साँस की जितनी मात्रा अपेक्षित रहती है उससे कम साँस लेकर उच्चारण करने से अर्धक दोष होता है।), ग्रस्त (जिह्वा के मूल में ही घिरा हुआ अथवा अव्यक्त उच्चारण वाला वर्ण ग्रस्त कहा जाता है।), निरस्त (निष्ठुर उच्चारण वाला वर्ण निरस्त कहा जाता है।), प्रगीत (सामवेद के समान गाने के स्वर में उच्चरित वर्ण प्रगीत है।), उपगीत (समीप के दूसरे वर्ण की गीति से, जो वर्ण स्वयं गीतिरहित होकर भी अनुरक्त हो उठा हो, वह उपगीत है।), क्ष्विण्ण (जिस वर्ण का उच्चारण काँपता हुआ-सा जान पड़े वह क्ष्विण्ण है।) और रोमश (गम्भीर उच्चारणवाला वर्ण रोमश है।)

ग्रस्तत्व आदि दोषों के सहित वर्णों को दूसरा वैयाकरण यों कहता है कि ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित (जो दूसरे अक्षर से अलग न जान पड़े), निर्हत (जिसका उच्चरण रूखा जान पड़े, वह वर्ण निर्हत कहा जाता है।), अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, संदष्ट (जो वर्ण बढ़ाकर उच्चारित जान पड़े वह संदष्ट है), एणाकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण (समीप के दूसरे वर्ण में जिसका उच्चारण फैला हुआ-सा हो) ये स्वरों के उच्चारण के दोष समुदाय हैं। इनके अतिरिक्त व्यञ्जन के दोष हैं।

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

नैष दोषः ॥

सिद्धान्ती कहता है कि 'दोषयुक्त वर्णों के ग्रहण' होने का जो यह दोष है, सो नहीं होगा।

(२३ समाधानवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

[॥ * ॥ गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः[१] ॥ * ॥]

(भाष्यम्)

गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निर्वृत्तिर्भविष्यति ॥

समाधान-वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि (आचार्य पाणिनि ने) गर्ग आदि और बिद आदि शब्दों का (गण में पाठ करते समय संवृतत्व आदि दोषों से रहित अर्थात्) शुद्ध पाठ किया था इससे संवृत आदि जो वर्ण के दोष हैं उनकी निवृत्ति हो जायगी।

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम् ॥

किम् ? ॥ समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ॥

(प्रदीपः) अस्त्यन्यदिति। गर्ग इत्यादिनैव संनिवेशेन गर्गादीनां साधुत्वं यथा स्यात् गार्ग्य इत्यादीनां मा भूत्। ततश्च तद्गतानामेवाकारादीनां दोषनिवृत्तिः कृता स्यात्,

---

१. वार्तिकार्थ—(आचार्य द्वारा) गर्ग आदि और विद आदि शब्दों के (शुद्ध) पाठ किये जाने से संवृत आदि (वर्ण के) दोषों की निवृत्ति हो जायेगी।

न तु समुदायान्तरस्थानाम् । यद्यपि प्रत्ययविध्यर्थो गर्गादीनां पाठस्तथापि प्रसङ्गात्समुदाय-साधुत्वार्थोऽपि भवति ॥

अब आक्षेप करने वाला कहता है कि परन्तु गर्ग आदि और बिद आदि शब्द के पाठ करने में तो दूसरा ही प्रयोजन है। प्रश्न—वह कौन सा प्रयोजन है ? उत्तर—समुदाय[1] का साधुत्व बतला सकें यह प्रयोजन है।

(समाधानैकदेशिभाष्यम्)

एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि ॥

(प्रदीपः) निवृत्तकलादिकामिति । अकारस्य संवृतत्वान्निवृत्तसंवृतत्वादिकामिति नोक्तम् । अकारस्य निदर्शनार्थत्वात्सर्ववर्णानां शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिरित्यर्थः ॥

समाधान करनेवाला एकदेशी कहता है कि (यदि अवर्ण आदि में रहने वाली जाति का उपदेश करने से संवृतत्व आदि दोषों वाले वर्ण का ग्रहण होने लगेगा इसलिए उसका प्रतिषेध करना आवश्यक है तो) अठारह भेदों वाले कलत्व आदि दोषों से रहित शुद्ध अवर्ण, इवर्ण आदि का हम विधान करेंगे। (अर्थात् शास्त्र के अन्त में 'अ अ' के समान ही कलत्व आदि दोषसहित वर्णों का उद्देश्य करके आदेश रूप से पुनः शुद्ध वर्णों का विधान करेंगे।)

(आक्षेपभाष्यम्)

सा तर्हि वक्तव्या ॥

आक्षेप करने वाला कहता है कि तब वह जो प्रत्यापत्ति (अ अ के समान कुल वर्णों के शुद्ध स्वरूप की प्रतिविधि) है, सो कहनी पड़ेगी (और इसमें गौरव होगा।)

---

१. 'समुदायानां साधुत्वं यथा स्यात्' इस भाष्य के ऊपर कैयट यह कहते हैं कि गर्गादि बिदादि पाठ का यह प्रयोजन है कि गर्ग और बिद ये जोआनुपूर्वियाँ (ग् अ र् ग् अ एवं ब् इ द् अ) हैं इन्हीं आनुपूर्वियों से गर्ग आदि शब्द साधु (कलत्व आदि दोषों से रहित वर्णोंवाले) माने जायँ और गार्ग्य का साधुत्व न माना जाय। गर्गादि और बिदादि के पाठ का उक्त प्रयोजन मानने से गर्ग शब्द में आने वाले जो अकार आदि वर्ण हैं उन्हीं के कलत्व आदि दोषों की निवृत्ति की जा सकेगी और गार्ग्य रूप जो अन्य समुदाय है उनमें आने वाले अकारादि वर्णों के उक्त दोषों की निवृत्ति नहीं की जा सकेगी। यद्यपि प्रत्यय (यञ् आदि) के विधान के लिए पाठ माना जा सकता है तो भी प्रसंगवश गर्ग आदि समुदाय का साधुत्व भी उसी से मान लेते हैं। यहाँ तक तो कैयट की बात हुई। किन्तु नागेश भट्ट कैयट से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि भाष्य के "समुदायानां साधुत्वं यथा स्यात्" इस वाक्य के 'समुदाय' शब्द से यञ् प्रत्ययान्त गर्ग आदि से तात्पर्य है। वैसे ही गार्ग्य आदि समुदाय के साधुत्व के लिए पाठ की सार्थकता है। कलत्व आदि दोषों की निवृत्ति के लिए पाठ की कोई सार्थकता नहीं है।

(२४ एकदेशिसमाधानवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः[१] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लिङ्गार्था सा तर्हि भवति ॥

एकदेशी के समाधान-वार्तिक का व्याख्यान करने वाला कहता है कि (वैसा कहने में कोई गौरव नहीं होगा; क्योंकि शास्त्र के अन्त में कुल वर्णों के शुद्ध रूप की जो प्रत्यापत्ति की जायगी) वह (प्रत्यापत्ति अनुबन्धों के स्थान में धातु आदि में जो कलत्व आदि चिह्न लगे होंगे, उन) चिह्नों की निवृत्ति के लिए (भी) होगी।

(आक्षेपभाष्यम्)

तर्त्तर्हि वक्तव्यम् ॥

आक्षेपकर्ता पूछता है कि तब धातु आदि में आने वाले जो वर्ण हैं उनमें कलत्व आदि (दोषरूप) चिह्न कहने पड़ेंगे क्या ?

(समाधानभाष्यम्)

यद्यप्येतदुच्यते। अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते ॥

(**प्रदीपः**) **यदनुबन्धैरिति**। यथा स्वरितत्वमधिकारार्थमेवमात्मनेपदाद्यर्थं कलादिकं प्रतिज्ञाय **कलादात्मननेपदमित्यादि** करिष्यते न त्वनुदात्तङित इत्यादि ॥ ननु चानुबन्धाभावे कथमणादिकाः संज्ञा उपपद्यन्ते ॥ **आदिरन्त्येनेत्यत्रादिः कलेः सहेत्युक्त्वा** अ उ इत्यादिकाः संज्ञाः करिष्यन्ते स्वरसन्धिश्चासन्देहाय न करिष्यते इत्यदोषः।

समाधान करने वाला उत्तर देता है कि यद्यपि ये (कलत्व आदि दोषरूप चिह्न) कहने पड़ते हैं (और वैसा कहने से गौरव भी होता है) तो भी (वास्तव में देखा जाय तो लाघव ही होगा। क्योंकि प्रत्यापत्ति मान लेने पर) अनेक अनुबन्धों का उच्चारण नहीं करना पड़ेगा। उन अनुबन्धों की इत्संज्ञा कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उनका लोप भी नहीं कहना होगा। क्योंकि अनुबन्धों से जो काम किये जाते हैं वे काम कलत्व आदि दोषरूप चिह्नों से ही कर लिये जायँगे।

(आक्षेपभाष्यम्)

सिद्धयत्येत्वम्। अपाणिनीयं तु भवति ॥

इस पर आक्षेप करने वाला कहता है कि हाँ, इस प्रकार सब काम बन तो जाते हैं, किन्तु आचार्य पाणिनि की इच्छा के प्रतिकूल हो जाते हैं।

---

१. वार्तिकार्थ—वह प्रत्यापत्ति (शुद्ध वर्णों का प्रतिविधान) चिह्नों की निवृत्ति के लिए भी (उपयुक्त) होगी।

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यथान्यासमेवास्तु ॥

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि तब जैसा है वैसा ही रहे। (तात्पर्य यह है कि किसी परिवर्तन की कोई आवश्यता नहीं है ।)

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ॐआकृत्त्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधःॐ इति ॥

अब पूर्व आक्षेप का स्मरण दिलानेवाला कहता है कि यह जो कहा जा चुका है कि "यदि जाति के उपदेश के विवक्षित होने से सिद्ध हो जायगा, ऐसा कहा जाय, तब तो संवृत आदि दोषों वाले वर्णों का प्रतिषेध कहना पड़ेगा ।"

(समाधानभाष्यम्)

परिहृतमेतम्,—गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति—इति ॥

समाधानकर्ता कहता है कि उसका यह उत्तर दिया जा चुका है कि (आचार्य पाणिनि ने) गर्ग आदि और बिद आदि शब्दों का (गण में पाठ करते समय संवृतत्व आदि दोषों से रहित अर्थात्) शुद्ध पाठ किया था इससे संवृत आदि जो वर्ण के दोष हैं उनकी निवृत्ति हो जायगी ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु चान्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनमुक्तम् । किम् ? । समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ॥

समाधान का खण्डन करने वाला कहता है कि किन्तु गर्ग आदि और बिद आदि शब्दों के पाठ करने में (आचार्य का) दूसरा ही प्रयोजन है यह कह चुके हैं न ? प्रश्न—वह कौन-सा प्रयोजन है ? उत्तर—समुदाय का साधुत्व बतला सकें, यह प्रयोजन है ।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते ।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ? । लभ्यमित्याह ॥

कथम् ? ॥ द्विगता अपि हेतवो भवन्ति । तद्यथा—आम्राश्च सिक्ताः पितरश्चप्रीणिता इति । तथा वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति ॥

(प्रदीपः) उभयमिति । यथाभूता गर्गादिस्था अकारादयस्तथाभूता एष सर्वत्र प्रयोक्तव्या इति प्रतिपाद्यते इत्यर्थः । **द्विगता इति** । द्वावर्थौ गताः प्रयोजनद्वयसंपादका इत्यर्थः ॥ **तथा वाक्यान्यपीति** । शब्दस्याप्यर्थवद् द्विगतत्वमित्यर्थः ॥

समाधान की पुष्टि करनेवाला कहता है कि यदि ऐसी बात है तब (गर्ग

आदि और बिद आदि शब्दों के पाठ से) दोनों कार्य कर लिये जायँगे । (पहला कार्य तो यह किया जायगा कि) गार्ग्य बैद आदि समुदायों के साधुत्व का बोधन भी कर दिया जायगा और (दूसरा यह कि) गर्गादि और विदादि में रहने वाले अकारादि में कलत्व आदि दोष निवृत्त कर दिये जायँगे ।

प्रश्न—किन्तु एक[1] ही यत्न से दोनों कार्य सिद्ध कैसे होंगे ?

उत्तर—(सिद्धान्ती) कहता है कि (एक यत्न से भी दो कार्य) कर लिये जाते हैं ।

प्रश्न—सो कैसे ?

उत्तर—क्योंकि एक कार्य के दो-दो भी कारण (प्रयोजन) हुआ करते हैं। जैसे—(आम के निकट बैठ कर तर्पण करने से) आम के पेड़ सींचे जाते हैं और (उसी जल से) पितर भी तृप्त किये जाते हैं । उसी प्रकार कुछ वाक्य भी ऐसे होते हैं जो द्विष्ठ (अर्थात् दो अर्थ होने से प्रयोजनवाले) होते हैं । "श्वेतो धावति" यह एक वाक्य है । इस वाक्य से (कौन कैसा दौड़ता है ? इस कर्ता और विशेषणविषयक प्रश्न पर प्रयुक्त एक ही वाक्य से) दो अर्थ (१—यहाँ[2] से कुत्ता दौड़ता है और २—वह दौड़नेवाला सफेद[3] है ये दो प्रयोजनवाले) समझे जाते हैं । दूसरा वाक्य है—"अलम्बुसानां याता" इस दूसरे वाक्य से भी (जो कि "किस जनपद को जानने वाला है ?" और "कौन समर्थ है ?" इन दो प्रश्नों के उत्तर में अकेला ही प्रयुक्त है) दो अर्थ (१—अलम्बुस[4] देश को जानेवाला और २—जिसे अन्न का बहुत भूसा[5] हो) समझे जाते हैं ।

(भाष्यम्)

अथ वा इदं तावदयं द्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति ? ॥

आगमेषु । आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

विकारेषु तर्हि ॥ विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

प्रत्ययेषु तर्हि ॥ प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

धातुषु तर्हि ॥ धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

प्रातिपदिकेषु तर्हि ॥ प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते ॥

यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि ॥ एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः । शशः षष इति मा भूत् । पलाशः पलाष इति मा भूत् । मञ्चको मञ्जक इति मा भूत् ॥

---

१. गर्ग आदि और बिद आदि के वर्णों के निर्दोष उच्चारण रूप एक ही यत्न से ।

२. "श्वा इतः धावति" ऐसा पदच्छेद करने से यह अर्थ निकलता है ।

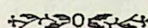
३. "श्वेतः" यह एक ही अखण्ड पद मान देने से यह अर्थ निकलता है ।

४. अलम्बुस एक खास देश का नाम है ।

५. अलम्=समर्थ; बुस=भूसा ।

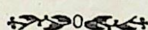
'आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः' ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमं पस्पशाह्निकम् ॥



(प्रदीपः) अथ वेति । केवलानां वर्णानां लोके प्रयोगाभावाद्धात्वादीनां च शुद्धानां पाठात् तत्स्थत्वाच्च वर्णानां न कश्चिद्दोषः ॥ **यानि तर्हीति** । डित्थादीनि ॥ **एतेषामपीति** । शिष्टप्रयुक्तत्वेनोणादीनां पृषोदरादीनां च साधुत्वाभ्यनुज्ञानात्सर्वेषामत्र सङ्ग्रहः सिद्धः ॥

इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथमं पस्पशाह्निकम् ॥ १ ॥



इष्ट-बुद्धि का अन्य प्रकार से उपपादन करते हुए करते हैं कि अथवा प्रश्न करने वाले से यह पूछा जाय कि "ये जो संवृतत्व आदि दोषों से युक्त वर्ण हैं सो कहाँ श्रुत होंगे ?"

"आगमों[1] में ।" "आगमों का पाठ शुद्ध किया गया है ।"

"तब आदेश आदि विकारों में ।" "विकार भी शुद्ध ही पढ़े गये हैं ।"

"तब प्रत्ययों में (श्रुत होंगे) ।" "प्रत्यय भी शुद्ध ही पढ़े गये हैं ।"

"तब धातुओं में (श्रुत होंगे) ।" "धातु भी शुद्ध ही पढ़े गये हैं ।"

"तब प्रातिपदिकों में (श्रुत होंगे) ।" "प्रातिपदिक भी शुद्ध ही पढ़े जाते हैं ।"

"तब जो प्रातिपदिक प्रतिपदोक्त[2] रूप से किसी सूत्र में अथवा किसी गण में पठित नहीं हैं, उनमें (श्रुत होंगे) ।"

---

१. आगम से यहाँ वैयाकरणों का पारिभाषिक आगम ही अपेक्षित है। आगम का "वेद" अर्थ करना ठीक नहीं । पूना के म० म० श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर ने आगम का जो यहाँ वेद अर्थ किया है सो ठीक नहीं; क्योंकि प्रसङ्ग वर्णोपदेश का है और उपदेश की चर्चा करते हुए जो यह कहा जाता है कि "धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः" उसमें आगम से पारभाषिक आगम ही लिया जाता है वेद नहीं । क्योंकि कलत्व आदि दोषों से युक्त वर्ण कहाँ श्रुत होंगे ? ऐसी जिज्ञासा होने पर स्वभावतः उपदेश की सूची में आने वाले इन पारिभाषिक आगमों की ओर ही भगवान् भाष्यकार की दृष्टि गई होगी—वेदों की ओर नहीं । इसके अतिरिक्त हम यह भी देख चुके हैं कि वर्णविकार के पूर्व वे जिस आगम का 'लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति' कहते हुए प्रयोग कर चुके हैं वह वेद नहीं, पारिभाषिक आगम ही है । फलतः यहाँ भी विकारेषु तर्हि के पूर्व आनेवाले आगमेषु इस भाष्य का अर्थ आगमों में यही कहना उचित है ।

२. साक्षात् नाम लेकर ।

इन अग्रहण प्रातिपदिकों का भी स्वर और वर्णक्रम के ज्ञान के लिए उपदेश करना चाहिए। क्योंकि उनका उपदेश कर देने से शश यह जो शुद्ध शब्द है उसी का उच्चारण होगा; षष इस अशुद्ध शब्द का नहीं। वैसे ही पलाश इस शुद्ध शब्द का उच्चारण होगा, पलाष इस अशुद्ध शब्द का नहीं तथा मञ्चक शब्द का कोई मन्जक उच्चारण नहीं करेगा।

आगम, विकार, प्रत्यय और धातु ये (आचार्य द्वारा शुद्ध) उच्चारित हुए हैं। अतः इनमें ये कलत्व आदि दोष प्राप्त नहीं होते।

इस प्रकार श्री भगवान् पतञ्जलिद्वारा विरचित व्याकरणमहाभाष्य के
पहले अध्याय के पहले पाद में पहला
पस्पशाह्निक समाप्त हुआ।

